

अग्रवालजी के कुछ संग्रहणीय ग्रन्थ

१.	मुमुक्षु (उपन्यास) . द्वितीय सस्करण	५–००
२.	सजगता (सशोधित एव परिवर्द्धित सस्करण)	२–००
३.	खेती और परमात्मा	८–००
४.	जीवन-दक्षता	८–००
५.	श्मशान यात्रा (सशोधित एव परिवर्द्धित सस्करण)	१–००
६.	धर्म-निरपेक्ष धर्म	५–००
७.	खेल-कूद मे वेदान्त	२–००
८.	विज्ञान और अध्यात्म	४–००
९.	बात बात मे बात (उपन्यास)	३–००
१०.	साधना शिविर	३–००



माता

पिता

और

गुरु

की स्मृति में

प्रकाशक :

तुलसी मानस प्रकाशन

गुप्ता मिल्स इस्टेट

रे रोड, बम्बई ४०० ०१०

मूल्य :

आठ रुपये मात्र

मुद्रक :

क. ला. मुनोत, एम ए

प्रभात प्रिंटिंग वर्क्स

४२७, गुलटेकडी, पूना ४११ ००९

पुस्तक की बात

जावन एक सहस्यमयी पहेली है। इस पहेली को सुलझा कर जीवन के मर्म को समझ लेता है और असत्य से सत्य की ओर—अंधकार से प्रकाश की ओर—चलने का व्रत लेता है, वही जीवन को सार्थक करता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को हम 'जीवन-निर्माण' की सज्ञा दे सकते है।

प्रदीप प्रज्ज्वलित होता है तो प्रकाश देता है। प्रकाश का गुण है अपने चारो ओर के अंधकार को दूर करना, *जो सामने आये उसे प्रकाशित* करना। इसीलिये दीपक की तुलना जीवन से की जाती है। जीवन दीपक की तरह स्वय प्रकाशित हो एव अपने चारो ओर के वातावरण को अपने प्रकाश से प्रकाशित करे। जीवन-दीप का यह प्रकाश ज्ञान के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? हम अपने इस ज्ञान के प्रकाश से अपने चारो ओर के जीवन को जाने। विवेक बुद्धि से इस नश्वर ससार की भ्रामकता का आवरण हटा कर परम पिता के दर्शन कर सके, उसी मे इस जीवन-प्रदीप की सार्थकता है।

पुस्तक मे जीवन से सम्बन्धित छोटी-छोटी घटनाओ को ले कर चर्चा की गयी है। हमारे जीवन मे और हमारे आसपास प्राय नित्य ही कोई-न-कोई घटना घटती रहती है, किन्तु हम अपनी व्यस्तता के कारण उन घटनाओ को अनदेखा कर जाते है, जिसके फलस्वरूप इनमे हम कुछ सीख पाने से वचित रह जाते है। किन्तु इसका यह अर्थ नही कि हम जिज्ञासु नही है—इन घटनाओ मे कुछ सीखने की इच्छा नही रखते। घटनाओ के रूप मे जीवन से जुडे इन कटु-मधु रिश्तो के प्रति हमारी रुचि किस प्रकार जगे? हम इनसे क्या शिक्षाएं ग्रहण कर सकते है?

मानव-जीवन के स्वरूप की विवेचना, यथार्थ सुख-दुख की व्याख्या तनाव से मुक्ति, मन की वृत्तियो का अवलोकन, आधारभूत जीवन-मूल्यो की

समीक्षा इत्यादि के प्रति सहज दृष्टि प्रदान करने की चेष्टा के साथ ही इच्छा और सकल्प, प्रेम और मोह, अपनापन और परायापन का भाव, श्रेय तथा प्रेय, सकल्प-शक्ति और लक्ष्य-प्राप्ति का मार्ग, भक्ति और ज्ञान, अह-कार और अधकार, छाया और माया, प्रेम और व्यवहार, मनुष्य की शक्ति और आत्मज्योति—इत्यादि अनेक विषयो का दार्शनिक दृष्टि से मनुष्य की सीमाओ एव सभावनाओ के परिप्रेक्ष्य मे तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।

मानव-जीवन मे आनेवाली समस्याए और असफलताए मनुष्य के लिये चुनौतियो के समान होती है। किस प्रकार इन चुनौतियो का सामना करते हुए हम अपने मे नव-जीवन का सचार करे, जीवन के प्रबलतम शत्रु चिन्ता से मुक्त हो कर आत्मविश्वास को प्राप्त करे और अपनी क्षमताओ एव योग्यताओ को बढाकर अपने जीवन को सत्यम् शिवम् और सुदरम् से अलकृत करे तथा कैसे ससार मे रह कर ससार का आनन्द प्राप्त करते हुए मोक्षकामी बने—इन सब बातो का विवेचन पुस्तक मे किया गया है।

इस पुस्तक को पढकर किसी को जाग्रत जीवन की प्रेरणा मिलती है तो इसका श्रेय हमारे गुरुदेव ब्रह्मलीन वेदान्त केसरी स्वामी निर्मलजी को होगा जिनके प्रसादरूप मे मुझे जीवनोपयोगी रहस्यमय सकेत प्राप्त करने का सौभाग्य हुआ।

अनुक्रम

खण्ड : १ : जन्म और जीवन

खण्ड : २ : अहंकृति

खण्ड : ३ : कामना

खण्ड : ४ : कालचक्र

खण्ड : ५ : संत और मनीषी

खण्ड : ६ प्रेम

खण्ड : ७ : मन-मन्दिर

खण्ड : ८ : आत्मज्योति



खण्ड एक

जन्म और जीवन

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्न पुन पुनरपि प्रतिहन्यमानाः ।
प्रारब्धमुक्तमजना न परित्यजन्ति ॥

(भर्तृहरि : नीतिशतक -२७)

● नीच कोटि के मनुष्य विघ्नो के भय से कार्य प्रारंभ ही नहीं करते। मध्य कोटि के लोग प्रारंभ तो करते हैं, पर विघ्नों की चपेट में आ कर बीच में कार्य छोड़ बैठते हैं, किन्तु उत्तम कोटि के पुरुष विघ्नों द्वारा वार-वार वाधित किये जाने पर भी प्रारभ किये हुए कार्य को नहीं छोड़ते ●

नम्रता, सेवा और प्रेम

भले ही भगवान ने मनुष्य को जीवन दिया हो पर जीवन को सुधारा मनुष्य ने अपने आप ही। जन्म देते समय ईश्वर ने मानव से कहा कि 'तू नम'। यह कहने का सर्वेश का आशय यह था कि मन का स्वभाव नीचे की ओर–विषयो पर जाता है, उसे उलटा कर। मन को उलटाये बिना वह नम नहीं हो सकता। जो नमता है वह तत्त्व की प्राप्ति कर सकता है। सच्ची नम्रता आये बिना तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती। वही नम सकता है जो अहकाररहित होता है। जो अहकाररहित होता है, वही सेवा भी कर सकता है। जहां अहकार होता है, वहा सेवा नही हो सकती। अहंकार की निवृत्ति के लिए सेवा परमोपयोगी है। सेवा से नम्रतापूर्वक प्रेम का विकास होता है। प्रेम से आत्मा का विकास होता है क्योंकि प्रेम आत्मा का परम तत्व है। प्रेम भी वही होगा, जहाँ पर आत्मीयता होगी। इस कारण मनुष्य जन्म को सार्थक करने के लिए शरीर से सेवा, स्वभाव में नम्रता और मन में प्रेम होना परमावश्यक है।

आत्मीयता

'मन' का उलटा 'नम' शब्द बनता है। इसका तात्पर्य यह होता है कि यदि तू मन पर अधिकार चाहता है तो तू नम—नमन कर, नम्रता अपना।

अहकार को मिटानेवाली नम्रता जब हृदय मे सेवा की भावना उत्पन्न करती है तब सेवाभावी व्यक्ति के मन में आत्मीयता का उदय होता है। **आत्मीयता अखण्ड प्रेम की जननी है**। प्रेम स्वतः ही आत्म-स्वरूप एवं आत्म भाव से बधा हुआ है। सत्य प्रेम आत्म-भावना के बिना कभी नहीं होता। सत्य प्रेम निरंतर नमन का ही एक व्यावहारिक स्वरूप है।

अपने उद्‌गम की ओर

ज्योति का उद्‌गम स्थान है सूर्य। हर एक ज्योति का स्वभाव ही ऐसा बना है कि अपने उद्‌गम स्थान को पहुंचना चाहती है। यही कारण है कि अग्नि की लौ ऊपर उठती है, क्योंकि इसका मूल स्रोत सूर्य ऊपर है। मोमबत्ती को उलटा कर देने पर भी उसकी लौ ऊपर को ही जाती है, क्योंकि उसका मूल ऊपर होने के कारण वह स्वभाव से ही ऊपर को जलती हुई मिल जाना चाहती है। इस प्रकार **हरएक ज्योति का स्वाभाविक आकर्षण ऊपर को ही होता है।**

जीव का कारण ब्रह्म

पानी का स्रोत है समुद्र। इसी कारण सभी नदी-नाले समुद्र की ओर ही दौड़ रहे है। यह कभी नही होता की पानी निम्न धरा-तलोन्मुखता का त्याग कर दे। वह समुद्र की राह ही खोजता है।

किसी ढेले को आप ऊपर फेकते हैं तो वह नीचे धरती की ओर ही आता है। ऊपर नही जाता, क्योकि उसका उद्गम नीचे है। इसी प्रकार जीव का कारण है ब्रह्म। ब्रह्म ही आनद व सुखस्वरूप है। अतः जाने-अनजाने सभी मनुष्य उसी चिर सुख की प्राप्ति की ओर दौड़ रहे है। सत कहा करते हैं– "**मेरो मन अनत कहा सुख पावै ?**" सारे सुख आत्मा में ही है, विभिन्न निमित्तों से वे आत्मा से ही मिलते है।

नास्तिक वह है जो कि ईश्वर को नही मानता, पर सुखी वह भी होना चाहता है। दुःखी होना वह भी नही चाहता। वही क्यों ? कोई भी प्राणी दुःख नही चाहता। जिस प्रकार मोमबत्ती को उलट देने पर भी उसकी लौ ऊपर को ही जाती है उसी प्रकार सच्चिदानद ब्रह्म से वना जगत अपने मूल सच्चिदानन्द 'ब्रह्म' की ही ज्ञान से अथवा अज्ञान से टोह लगाता रहता है। वही उसे सच्ची शान्ति मिल मिलती है।

अनमोल तन

एक मनुष्य ने किसी को खाने के लिए अखरोट देकर कहा कि ये दात के नीचे रखते ही टूट जाते है। उसने कहा–" न भाई ! मै अखरोट को अपने दातों के नीचे रखकर नही तोड़ूगा। क्योकि मेरे दात तो कीमती है। आपको अपने दातों से अखरोट तोड़ना हो तो भले ही आप तोड़े, क्योंकि आपने दांतों के लिए कीमत नही दी है।" यह कहकर उस समझदार आदमी ने अपने दातो से अखरोट नही तोड़े, क्योकि ऐसा करने मे उसके दांतो को जो कि उसने पैसे खर्च करके लगवाये थे, नुकसान हो सकता था। जिस प्रकार हम अपनी कीमती वस्तुओ की हिफाजत करते

है, उसी प्रकार ईश्वर ने हमें जो अनमोल चीजे दी है, उनकी कद्र हमे अवश्य करनी चाहिये। पर दु:ख है कि हम ऐसा नही करते। हमारी इद्रिया ईश्वर की दी हुई अनमोल वस्तुएँ है। भला आखों के लिए हमने क्या कीमत चुकायी है ? भगवान ने हमें ये इद्रिया यू ही दी है। फिर भी ये इतनी कीमती है। विश्व की दौलत के बदले भी हम इन्हे गँवाना पसन्द नही करेगे। उस देने वाले दयालु ने हमें जो कुछ बहुमूल्य वस्तुए दी हैं, उनकी कीमत कोई नही चुका सकता।

प्रथम सोपान

हम छोटी-छोटी वस्तुओ को कीमती मानते है, पर इस अमूल्य शरीर की कीमत को नही समझते। अगर हम सही मापने में उसकी कीमत समझ ले तो पता चलेगा कि **शरीर कितनी अनमोल रत्नराशि है ! स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति का प्रथम सोपान यही है, जिससे हम ऊपर उठ सकते हैं।** इसीलिये कहा है–**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।**

मनुष्य को महापुरुषो ने सदा समझाया है कि नर-देह अत्यन्त दुर्लभ है। मनुष्य चाहे तो यही देह भवसागर के तरने के लिए नौका हो सकती है। इसमे सदा-सर्वदा के लिए जन्म-मरण के कष्ट को पार किया जा सकता है। जिन्होने इस भगवद्दया का सच्चा मतलब समझा, वे इस शरीर से भवसागर पार हो गये। अत: शरीर की कीमत और इसका सच्चा उपयोग समझना आवश्यक है।

卐 卐 卐

सच्चा जीवन आत्मोन्नति का साधन

सच्चा जीवन और ऊंचा लक्ष्य ही आत्मोन्नति का एकमात्र साधन है। मनुष्य का लक्ष्य हो ऊँचा और नियत साफ हो तो फिर आत्म-प्राप्ति मे कोई रुकावट खड़ी नही हो सकती। मनुष्य का लक्ष्य तो है ऊंचा किन्तु नीयत साफ नही, न साधन ही ठीक है, तो लक्ष्य की प्राप्ति नही होगी। उदाहरण के लिये, मनुष्य का लक्ष्य हो करोड़पति बनने का, किन्तु वह बेच रहा है वाजार में भुने हुए चने, तो वह करोड़पति का लक्ष्य रखते हुए भी साधन-हीन होने के कारण करोड़पति नही वन सकता। उसे करोड़पति वनने के लिए समयानुकूल उच्च साधन अपनाने होगे। एक मनुष्य का साधन तो है उत्तम, परन्तु उसका लक्ष्य कुछ नही, तो वह भी लक्ष्य की प्राप्ति नही कर पाता। हरिद्वार में मुझे एक सुन्दर व स्वस्थ किशोर मिला, जिसे गीता कंठस्थ थी। वह श्लोकों का वहुत ही शुद्ध उच्चारण करता हुआ गीता-पाठ कर रहा था।

साधन विना साध्य कैसा ?

मैने उससे पूछा कि यह सव पढकर तुम क्या करोगे ?

उसने बताया, "मै बाबू बनूगा।"

अर्थात् क्लर्क बनूंगा। इस लडके के पास साधन तो उत्तम था किन्तु उत्तम लक्ष्य होने के कारण यह बालक गीताध्ययन का मुख्य फल--ज्ञान-प्राप्त करने मे असमर्थ था। आत्म प्राप्ति के लिए लक्ष्य का ऊंचा होना और नीयत का साफ होना --ये दो धन परम आवश्यक है। नीयत साफ नही तो लक्ष्य का ऊंचा होना भी एक आडवर मात्र ही हो जायेगा। लोक-दिखावा होगा और अहंकार की वृत्ति उत्पन्न करेगा।

साधन विना साध्य कैसा? और साध्य के ही अनुकूल साधन भी न हो तो लक्ष्य बेईमानी छिपाने का काम ही देगा, सारे व्यवहार मे सच्चाई का वर्ताव हो तभी व्यक्ति सत्यस्वरूप आत्मा को पा सकेगा। ऐसा ही जीवन आत्मोन्नति का साधन होगा।

卐 卐 卐

जीवन के भाव

एक कारखाने मे तीन मजदूर काम कर रहे थे। उनसे किसी ने पूछा, "क्या कर रहे हो ?" एक बोला– "दिन काट रहा हू।" उसने गलत नही कहा था किन्तु उसके कथन मे वेदना थी। वह इस कथन के मिस अपने दु ख की आहे भर रहा था। आहे भर रहा था क्योकि जिसे जीवन कहते है, वह उससे कोसो दूर चला गया था।

दूसरे से पूछा तो वह बोला– "रोजी कमा रहा हू।"

यह व्यक्ति दु.खी नही दीख रहा था, क्योकि ये शब्द दुःखी के नही हो सकते। ऐसा कोई भी सामान्य गृहस्थ वोल सकता है। अतः यह सामान्य स्थिति का गृहस्थ था और अपने वाल-वच्चों को पालने के लिए नित्यप्रति आजीविका कमाने के लिए काम करता था। इसे काम इतना बोझ नही प्रतीत होता था जितना कि पहले वाले मजदूर को। किन्तु इसमें भी कर्म की झलक नही थी, रोजी कमाने की ही वात का महत्त्व था।

तीसरे से जव मैंने वही प्रश्न पूछा तो उस समय वह गुनगुनाता हुआ गीत गा रहा था। उसने गुनगुनाना रोक कर कहा कि **"मै देश लिए उत्पादन कर रहा हूं।"**

इस तीसरे मजदूर के उत्तर मे हृदय की प्रसन्नता, आंखों मे चमक और शरीर मे स्फूर्ति थी। तीनो मजदूर एक तरह का काम करते हुए भी अपने-अपने सकल्प के कारण तीन तरह का जीवन व्यतीत कर रहे थे। एक अधम, दूसरा मध्यम और तीसरा उत्तम।

एक ही काम जो भावना विशेष के कारण जीवन को भार वना दता, भावना के वदल देने पर **जीवन भार रूप न रहकर सार रूप हो जाता है। काम नहीं वदला, भावना बदल गयी और साथ-साथ जीवन वदल गया। अत. उत्तम जीवन वनाने के लिए मनुष्य के भाव बदलने चाहिये।** भाव के वदलने पर मनुष्य आप ही आप वदल जाता है। वह उत्तम भावों से उत्तम और अधम भावो से अधम हो जाता है।

योगकार कहते हैं कि "सत्य की प्रतिष्ठा में सारे प्रयत्न स्वयं ही सत्यवादी का उपस्थान करते हैं।"

सत्य, तप, ब्रह्मचर्य और सम्यक ज्ञान—ये चार चीजें आत्मा या ऊंचे लक्ष्य की साधक हे। इनके विना आत्मसिद्धि नहीं होती।

मिथ्या भावनाएँ झूठ की ओर ही ले जायेगी, सत्य की ओर नही। हा, जव 'सत्य-ब्रह्म' की भावना वढ़ते-वढ़ते असत्य से हट-कर सत्य पर पूर्ण दृढ़ हो जायेगी तो सारे आडम्वर स्वयं छूट जायेंगे। मानव सत्य-पथ पर सत्य-ब्रह्म की ओर चलेगा।

卐 卐 卐

कुलटा बुद्धि

एक सरल हृदय के सीधे-सादे मनुष्य का किसी कुलटा स्त्री के साथ प्रेम हो गया, उसने उससे शादी भी कर ली। तीन मास के बाद ही उनको एक लड़का हो गया। वह मनुष्य जहा जाता वही लोग उसे ताने मारते हुए कहते— सारे ससार मे तो नौ मास मे बच्चा होता है, पर बता तुझे कैसे तीन ही महीने मे बच्चा हो गया। इस सीधे-सादे निष्कपट व्यक्ति से कोई भी उत्तर देते न बनता।

आखिर तंग होकर इस व्यक्ति ने यह लोकचर्चा एक बार अपनी स्त्री को सुना दी। उस स्त्री ने अपने पति से कहा कि तुम हिसाब जानते हो या नही? ऐसे ही लोगो की बातो मे आ जाते हो? देखो मै तुमको पूरा हिसाब करके बता देती हू। तब उसने पूछा, "तुम्हारी शादी को कितने महीने हुए है?"

पति ने कहा, "तीन महीने।"

"और मेरी शादी को कितने महीने हुए है?" पत्नी ने फिर पूछा।

पति ने कहा, "तीन महीने।"

—"तीन और तीन कितने होते है?"

पति ने कहा, " छह।"

—" और वच्चा कितने महीने का हो गया है ? "

पति ने कहा, " तीन महीने का।"

—" तव छ. और तीन कितने होते है ? "

पति ने उत्तर दिया कि नौ होते है ?

—" तो आखिर पूरे नौ महीने तो हो गये न ? हिसाव मिल गया न ? लोग वेवकूफ है जो उनको हिसाव नही आता। नही तो पूरे नौ मास हो जाते है।"

इस प्रकार उस कुलटा स्त्री ने उसको समझा दिया। **कुलटा स्त्री की ही तरह मनुष्य की वुद्धि है जो मनुष्य को भ्रमीभूत किये** हुए है। **वह कहती है कि जीवन अलग है। जीव से जगत अलग है और इन दोनो से जगदीश्वर अलग है।** इन तीनो की सत्ता परस्पर भिन्न-भिन्न है। महान् पुरुप कहते है कि जीव, जगत और जगदीश–ये तीनो व्रह्मस्वरूप ही हैं। व्रह्म के अतिरिक्त कही कुछ नही है। किन्तु द्वैत-त्रैत मानने वाले कहते है कि नही, यह सव भिन्न-भिन्न है। जिस तरह तीन महीने के वच्चे को अपनी शादी और पति की शादी और वच्चे की आयु को उस कुलटा स्त्री ने भिन्न-भिन्न वताकर उस सीधे-सादे पति को वहका दिया उसी प्रकार अध्यात्म मे ठीक उलटा-भ्रम घटित होता है। द्वैत और त्रैत के मानने वाले एक को भिन्न-भिन्न दिखाते है। **जगत मे जीव और जगदीश्वर के एक होते हुए भी वे उन्हें भिन्न-भिन्न वताते है।** यह मानव की वुद्धि का ही चमत्कार है कि वह एक को भी अपने सम्पर्क से अनेक करके दिखला रही है।"

卐 卐 卐

कर्मों में असंगता

कर्म करने का कौशल भी किसी-किसी को ही प्राप्त होता है, क्योकि हरएक काम के करने मे कुछ-न-कुछ कुशलता अवश्य होती है। इसी से ठीक प्रकार से काम हो सकता है। माताए जब कटहल काटती है तो काटने से पहले हाथो मे थोडा-सा तेल लगा लेती है, जिससे कटहल का रस उनके हाथो मे चिपकता नही। इसी प्रकार जो लोग निरासक्ति रूपी तेल लगाकर ससार का व्यवहार करते है वे ससार मे आसक्त नही होते। संसार उनसे चिपकता नही। वे ससार मे रहते हुए भी प्रसन्नमना होकर संसार के कार्य भी करते हैं और अपने परम लक्ष्य को भी नही भूलते।

माताएं खौलते हुए गर्म पतीले को जब चूल्हे से नीचे उतारती है, तो सडसी का उपयोग करती है, जिससे उनके हाथ नही जलते। इसी प्रकार ससारी लोग असग होकर कुशलता पूर्वक कर्म करते रहते है, जिससे उन्हे कर्म बन्धन नही होता। काम बिगड़ जाने पर भी उनके मन मे क्षोभ नही होता।

हर्ष-विषाद नहीं

मैंने देखा है कि एक नर्स रात भर रोगी की सेवा करती रहती

है। वह एक मिनट भी नही सोती एवं इतनी सेवा करती है कि शायद घरवाले भी न कर सके। किन्तु उस मरीज की किसी कारणवश मृत्यु हो जाती है तो वह बिलकुल क्षुब्ध नही होती। तत्काल अपना बैग उठाकर घर चल देती है। यही बात एक मुनीम की भी है। मुनीम भी मालिक के लिए लाखो रुपयों का कार्य व्यवहार करता है, किन्तु वह अपना समझकर नही करता, अपने मालिक का समझकर ही करता है जिससे नफे-नुकसान मे किसी प्रकार का भी हर्ष-विषाद नही होता। इसी प्रकार **जो व्यक्ति सब कार्य-व्यवहार प्रभु परमात्मा का समझकर करता है वह हर्ष-विषाद से मुक्त हो जाता है।**

सम्यक् दृष्टि

कर्म करते हुए भी मनुष्य की सम्यक् दृष्टि बनी रहे। वह विपरीत परिस्थितियों में भी विषमता को प्राप्त न हो। यह बात निष्काम कर्म की भावना रखकर कर्म करने पर ही बन सकती है। यद्यपि कर्म का स्वभाव ही फल देने का है पर निष्काम-भाव मन को शान्त भी रखता रहता है। अनुत्तीर्णता का दु:ख नही होने देता। **मोक्षभागी शरीर निष्काम कर्मो से ही प्राप्त होता है।** चाहे सकाम भाव से कर्म करो अथवा निष्काम भाव से, पर अपने-अपने ढग का फल अवश्य देते है। कर्म कभी व्यर्थ नही जाते।

卐 卐 卐

सजगता

मनुष्य को हर एक काम करने में सजग और सावधान रहना चाहिये। वह सजगता के साथ सोचे, सजगता से देखे और चले। मनुष्य अगर सजगता से नही चलता तो उसे पद-पद पर गिरने का भय रहता है।

बहिर्मुख–अन्तर्मुख

वहुत से मनुष्य देखते हुए भी नही देखते, होश रखते हुए भी होश मे नही है। उनकी मूढ़ अवस्था है। भैस या वकरी की तरह जो सामने आया मुह मार दिया, सारा दिन चरते-खाते रहे। मूढ़ता मे बैठे रहे। कुछ विचारधारा नही, कुछ विवेक नही। जव उनमे काम की वृत्ति उठती है तो उसकी पूर्ति करने लगते है। जव खानै का मन हुआ तो खा लिया। जैसा मन ने कहा कर लिया। मन ने कहा सिनेमा चलो, तो सिनेमा चल दिये। मन ने कहा कि गप्पे हाँको तो गप्पे हाँकते रह गये। इस प्रकार के व्यवहार कैं लोग मनमुखी कहलाते है–जिसको शास्त्रो मे 'पामर' कहा गया है। सत्संग मे उनकी रुचि नही, वे सेवा कार्य नही करते। हमेशा स्वार्थ सिद्धि मे लगे रहते है। अन्धा वह नहीं

जिसे दिखता नहीं – अन्धा तो वह है जो देखते हुए भी नहीं देखता। संसार मे दो ही वस्तुएँ हैं: दृश्य–वहिर्मुखता और द्रष्टा अन्तर्मुखता।

मूढ दशा

जव मनुष्य दृश्य को देखता है तो उसका ध्यान रूप, रग, माप, तौल, परिमाण, डिजाइन इत्यादि की ओर जाता है। तभी मनुष्य की वृत्ति वहिर्मुख हो जाती है। वह वाहर के फूल को तो देखता है किन्तु जो देखता है उसे नही देखता। यही मूढ़ दशा है, इसी का नाम अज्ञान है। जैसे, क्रोध प्रायः सभी मनुष्यो को आता है। एक तो वे है, जिन्हे क्रोध आता है और वे क्रोध के इतने वशीभूत हो जाते हैं कि अपने आपको भूल जाते है। मै कौन हूँ और सामने खड़ा प्राणी कौन है, हम दोनों के सम्वन्ध क्या है? यहाँ तक कि पूज्य माता-पिता या गुरु का भी कभी-कभी अपमान कर वैठते हैं। जो सजग नही रहते उन्हे पता नही चलता कि क्रोध कव आया, कैसे आया? फिर तो क्रोध उनके ऊपर हावी हो जाता है। मनुष्य क्रोध के वशीभूत होकर निंदनीय व भयकर दोषपूर्ण कार्य कर वैठता है। **क्रोधावस्था में विवेक नहीं रहता,** भले-वुरे की पहचान नही रहती और जीव क्रोध के आवेश मे ऐसे कार्य कर वैठता है जिसके लिए उसे पछताना पड़ता है।

सकल्प - विकल्प

दूसरे प्राणी वे हैं जो कुछ विचार रखते है, कुछ सोचते है। जो मन मे आया वे तत्काल नही कर वैठते। पहले वे विचार करते है तव उसे व्यवस्थित रूप से करते हैं। किन्तु जो दृढ़निश्चयी नही

हो पाते और कभी सोचते है 'करो' और कभी सोचते है 'न करो', ऐसे मनुष्यों को अगर कभी क्रोध आता है तो उनको पता तो चल जाता है कि क्रोध आया किन्तु वे क्रोध को रोक नही पाते। ऐसे मनुष्य के अन्दर विचारो का संघर्ष चलता रहता है।

विवेक - प्रधान

तीसरे वे व्यक्ति है जो **विवेक प्रधान है। विवेक एक ज्योति है, जिसके सहारे मनुष्य संसाररूपी जंगल के अन्दर निर्भीक होकर घूम सकता है।** हर काम करते समय हमारा विवेक हमें बताता है कि यह काम करने योग्य है एवं इसके करने का सही तरीका क्या है? शुचि और अशुचि क्या है? सत् और असत् क्या है? **विवेकप्रधान मनुष्य को अगर कभी क्रोध आता है तो उसे फौरन पता चल जाता है कि क्रोध आ गया।** जब उसे पता चल जाता है तो वह सावधान हो जाता है। विवेक द्वारा क्रोध को अपने अधीन कर लेता है। वह स्वयं क्रोध के अधीन नही होता है।

ज्ञानी

चौथी अवस्था ज्ञानी की है जिसको क्रोध आता ही नहा **बल्कि वह तो आवश्यकता पड़ने पर क्रोध को आमन्त्रित करके बुलाता है,** कि अब तुम्हारी आवश्यकता है, **और आवश्यकता पूरी हो जाने पर क्रोध को लौटा देता है।**

सजग मनुष्य ही आत्मा का दर्शन कर सकता है। आत्मा का दर्शन किसी का दर्शन नही किंतु स्वय के दर्शन करना है। स्वय, स्वय से भिन्न नही। अत. जीवन मे कल्याण एव सुचारु रूप से लोकयात्रा सपन्न करने के लिये सजगता परमावश्यक है।

卐 卐 卐

मैं क्या हूँ ?

किसी ने पूछा कि थाली किसकी है ? पास मे खड़े हुए व्यक्ति ने उत्तर दिया, 'पीतल की'। प्रश्नकर्ता ने पुनः कहा कि "अरे भाई, मै पूछता कुछ हू और आप उत्तर कुछ और ही दे रहे है।" पर पुन. पूछने पर उत्तर देनेवाले ने भी दुबारा वही उत्तर दिया। पर यह उत्तर, प्रश्न के आशय के अनुकूल नही है।

सवाले दीगर जवाबे दीगर

इसी प्रकार **प्रश्न कुछ और है और हम उसका उत्तर कुछ और ही दे रहे है। प्रश्न यह नहीं है कि मेरा क्या है ? प्रश्न तो** यहां यह है कि मै कौन हूँ ? मेरा जो भी कुछ है, वह यही धरा रह जायेगा किन्तु अपना 'मै' कभी अपने से भिन्न नही होगा। निज का मूल है–'मै'। क्योकि मै विना मेरा नही होता। **'मै' को समझे विना ही यह 'मेरा-मेरा' कर रहा है। जिन लोगों ने 'मै' को समझ लिया है– वे 'मेरा-मेरा' नहीं करते**। मेरा जग के पदार्थो से सम्बन्ध आसक्ति के कारण ही है। जिस महापुरुष को जग के पदार्थो मे आसक्ति नही रही उसके लिए मेरापन भी नही रहा। हमे अपने कल्याण के लिए निजीपन की ओर आना है।

अपने स्वामित्व का पता लगाना है, न कि मेरेपन का। जिस प्रकार थाली किसकी है – पूछने से तात्पर्य उसका स्वामी जानने से था, न कि किस धातु की बनी है इससे, उसी प्रकार 'मैं क्या हू' यहां अपने सच्चे स्वरूप को जानने से मतलब है। इसी के बताने में सारे अध्यात्म शास्त्र सहायता करते है। 'मैं क्या हू' यह जान लेने पर फिर जानने को कुछ भी बाकी नही रहता। अतः 'मैं क्या हू' इसकी खोज हर एक प्राणी को करनी चाहिये।



श्रेय तथा प्रेय का मार्ग

मनुष्य की अध्यात्मोन्नति के लिए श्रेय और अवनति के लिए प्रेय मार्ग होता है। श्रेय मार्ग मे मनुष्य को आत्मसयम तथा साधना मे पुरुपार्थ करना पडता है। तभी अंत मे इनका परिणाम शाश्वत सुख होता है। प्रेय मार्ग में इंद्रियो के विषय प्रिय लगते है। उसे तात्कालिक क्षणिक सुख भी प्राप्त होता है किंतु अत मे उसके सुखाभास का परिणाम दु.ख ही होता है। भोग का परिणाम रोग ही है। तभी तो सन्तो ने भोग मे रोग का भय माना है। भोग भोगते-भोगते इद्रिया और शरीर शिथिल पड़ जाते है, उनकी प्रखरता चली जाती है। प्रवृत्ति वढ़ती जाती है और भोगो से तृप्ति कभी नही होती। भोग के वाद शरीर के अत्यत क्षीण होने पर भोगो के प्रति घृणा हो जाती है, किंतु वह घृणा टिकती नही। कुछ काल के वाद अभ्यासवश फिर उसी भोग की इच्छा जाग्रत हो जाती है। इसी प्रकार वार-वार इच्छा, क्षीणता और भोगलिप्सा मिल कर अंत मे मनुष्य को काल के गाल मे ढकेल देते है।

चुनना है मार्ग स्वयं

मनुष्य श्रेय मार्ग पर चले अथवा प्रेय मार्ग पर, इसका चुनाव मनुष्य आप ही कर लेता है। इस बात में मनुष्य पूर्ण स्वतंत्र है कि वह कौन से मार्ग पर चले, श्रेय पर अथवा प्रेय पर। श्रेय मार्ग में वह संदेहों की निवृत्ति के लिए सत्संग करता है। अपने और शास्त्रों के साथ गुरु के अनुभवों का समन्वय करता है। वह अपने विवेक से देहबुद्धि को रोकता है और आत्मबुद्धि को दृढ करता है। वह श्रवण तथा मनन करता रहता है। वह द्वैत-भाव छोडकर सब भूतों मे एक आत्मबुद्धि को रखकर अद्वैत का साधन करता है। वह साधुओं के गुण सुन उन्हे धारण करने की चेष्टा करता है। वह असत्कर्मो को नष्ट करता हुआ पुण्यों का एवं निष्काम कर्मो का सग्रह करता है। विचार से अविचार को दूर भगाकर श्रेय मार्ग प्रशस्त करता है।

श्रेय बिना निःश्रेयस् नहीं

श्रेय मार्ग पर चलनेवाला साधक अत में अपने निजी लक्ष्य-मोक्ष को प्राप्त करता है। पर प्रेय मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति अत में अधोगति को प्राप्त होता है। इस कारण प्रेय का त्याग कर श्रेय मार्ग को अपनाना चाहिये, क्योकि श्रेय विना नि.श्रेयस् नही मिलता।

卐 卐 卐

संकलपशक्ति और लक्ष्य प्राप्ति

मनुष्य की सफलता उसकी संकल्पशक्ति और लक्ष्य-दृढ़ता तथा विश्वास पर निर्भर रहती है। राजा की लगन जिस तरफ होगी, वह पूरी ही होगी। संकल्पशक्ति के धनी राजाओ तक ने अध्यात्म-वाद को अपनाया और जगलों मे जाकर सतो की कुटियों मे झाड़ू लगाने तक का कार्य भी किया। राजाओं ने राजपाट को त्यागा, दर-दर की खाक छानी, सतो की सेवा की मात्र अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए। आज भी विदेश से वहुत-से सुशिक्षित विद्वान इस भारत भूमि पर सतो की खोज करने के लिए आते है ताकि कोई ऐसा संत उनको मिल जाये जो कि उन्हे आत्मप्राप्ति का सच्चा रास्ता वतला सके। लगन एक ऐसी चीज है जिससे मनुष्य दृढ़तापूर्वक अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। अध्यात्म की लगन एक ऐसी लगन होती है जो किसी के मिटाये नहीं मिट सकती। एक बार जिसको इसका रस आना शुरू हो जाता है वह इसी में रत हो जाता है।

स्त्री-हठ और वाल-हठ

स्त्री-हठ और वाल-हठ प्रसिद्ध है। ये भी जिस वस्तु को पकड लेते हैं कभी नही छोडते। जव इनके हृदय मे तीर की तरह

वात लग जाती है तो इनका हठ उलटकर अध्यातम प्राप्ति में दृढ़ता का रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार स्त्रियों मे भी वड़ी-बड़ी भक्त स्त्रियां हुई है। मीरावाई, सहजोवाई, नामदेव की स्त्री, कमाली, गोदम्वा, कुमुदवल्ली, रंगनायिकी, विजयगढ़ की महारानी आदि अनेक दिव्य भक्त स्त्रिया हुई है जिन्होने अपनी जान पर खेल कर भक्ति की आन निभाई है। वालकों में ध्रुव और प्रह्लाद भक्त मशहूर है। उन्होने भी बालहठ की दृढ़ता के कारण अपने स्वरूप की प्राप्ति की। शिवली, मन्सूर, सम्सतबरेज आदि अनेक सूफी सन्तों ने शूली चढ जाने पर भी अपनी अध्यात्म की कौल रखी।

जब मनुष्य की संकल्पशक्ति जागती है तो वह दृढ़तापूर्वक अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। फिर आत्मप्राप्ति में देर नहीं लगती।



दर्शन और जीवन-दर्शन

मनुष्य जन्म को जीवन वनाने के लिए ही जन्म लेता है। जन्म तो सब का होता है किन्तु जीवन किसी-किसी का। जन्म मा-वाप देते है, किन्तु जीवन गुरु से प्राप्त होता है। गुरु भेद में अभेद के दर्शन कराते है और अभेद का भेद वता कर शिष्य को भेद मे निकाल अभेद की ओर ले जाते है। भेद तो हजामत वनानेवाला नाई भी जानता है। भेद तो सव को दीखता रहा है किन्तु जो भेद के अन्दर अभेद के दर्शन है, वही वास्तविक जीवन-दर्शन है।

प्राय सभी व्यक्ति मूर्च्छित व अचेत अवस्था में ही जन्म को व्यतीत कर देते है। उनको मिट्टी के दिये की तरह यह पंच-भौतिक शरीर तो मिला किन्तु उसके अन्दर जो यह लौ जगानी थी, तथा यह दिया जो कुछ होने के लिए था, वह न हो सकने के कारण निरर्थक हो जाता है।

ज्ञान की लौ

दिया-वत्ती-तेल हो, तो उसमे लौ जलाने मे देर नही लगती। इसी प्रकार मनुष्य मे अधिकारी के लक्षण पूरे हो, तो उसमें ज्ञान

होने मे देर नही लगती। ज्ञान तो उसमें है ही, किन्तु ज्ञान का ज्ञान न होना ही अज्ञान है। हमें पदार्थो, व्यक्तियों-सपत्तियो का तो ज्ञान है, किन्तु हम जिससे इन सब को जानते है, उसे नही जानते, यही अज्ञान है। हमारी दृष्टि बहिर्मुख होने के कारण हमें वहां के पदार्थ तो प्रतीत होते है, किन्तु हम जिससे देख रहे है, उसको अनुभव नही कर पाते।

अन्दर का प्रकाश

रात के समय मोटर बसों में ड्राइवर अन्दर की वत्तिया वन्द कर देते है, जिससे उनके वाहर स्पष्ट दिखाई देता है। इसी प्रकार जव मनुष्य के अन्दर ज्ञान की वत्ती बुझ जाती है तो अज्ञान के अधकार मे वाहर के पदार्थ ही दृष्टिगोचर होते रहते है, किन्तु जब वस की तरह वाहर की वत्ती वन्द कर अन्दर प्रकाश हो जाता है, तो वाहर के पदार्थ फीके पड़ जाते है। जब मनुष्य के अन्दर ज्ञान की महानता हो जाती है तो सुख-शान्ति की अनुभूति उसके अन्दर ही होती है। उसे शान्ति के लिए कही जाना नही पड़ता। वह आनन्द का स्वय में ही खोज लेता है। जव उसका आनन्द किसी पर अवलम्बित नही होता तो वह पूर्ण स्वतन्त्र हो जाता है। वह उसे जव जी चाहे प्राप्त कर सकता है। यही है जीवन-दर्शन।

शास्त्रों को दर्शन-शास्त्र इसलिए कहते है कि उसके माध्यम से मनुष्य को स्वयं के दर्शन हो जाते है। हम मन्दिरों में भी जो दर्शन करने जाते है, उसका भी तात्पर्य यही है कि मन्दिर में भगवान के दर्शन करते-करते हमें अपने दर्शन हो जाते है। एक वार मै माधववाग स्थित लक्ष्मीनारायण के मन्दिर में दर्शन करने

गया। वहां मुझे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि कुछ लोग भगवान के समक्ष खड़े होकर दर्शन कर रहे थे, और कुछ भगवान की ओर पीठ कर खड़े थे। मैने यह जानने की चेष्टा की कि यह पीठ को उधर कर क्या कर रहे है? मुझे प्रतीत हुआ कि वह दर्पण मे देख रहे है। उनका कद छोटा था व उनके आगे कुछ लम्बे व्यक्तियो के आ जाने से वे भगवान के दर्शन सीधे नही कर पाए थे। इसलिए उन्होने दर्पण के प्रतिविंव द्वारा दर्शन करने की युक्ति निकाली।

दर्पण सदृश विराट् जगत

कुछ साधक ऐसे है जो तीव्र जिज्ञासा को लेकर भगवान के सम्मुख हो उनके दर्शन कर लेते है, किन्तु कुछ ऐसे है जिनका अधिकार ऐसा नही। वे भगवान के दर्शन दर्पण सदृश इस विराट् जगत मे कर लेते है। वह चलती-फिरती मूर्तियो को भी भगवान का ही प्रतिविम्व समझते हैं। जल-थल-आकाश व वायु म उन्हे भगवान के ही दर्शन होते है।

हम किसी मनुष्य को मिलने के लिए जाते है तो उसे कहते है कि आप के दर्शन करने आए है। फिर पूछते है कि क्या आप स्वस्थ है? यहा दर्शन का तात्पर्य यही है कि मैं तुम्हारे में भगवान के दर्शन करू। आप स्वस्थ है— इसका तात्पर्य है कि आपकी स्व मे स्थिति है न! एक ईसाई पादरी ने मुझे वताया कि नमस्ते का अर्थ है नम. अर्थात मै नमस्कार करता हूं, ते, उस परमात्मा का। जव हम किसी व्यक्ति को नमस्ते करते है, तो भी हम भगवान को ही नमस्ते करते हैं। उसका यह अर्थ मुझे वहुत ही अच्छा लगा। यदि मनुष्यमात्र की ऐसी भावना हो जाय, तो उसे प्रत्येक मनुष्य मे ही भगवान के दर्शन होने लगे।

जीवन-दर्शन जिसको हो जाता है, उसका जीवन कृतकृत्य हो जाता है। उसे कुछ करना बाकी नही रह जाता है। उनका जीवन लौ की तरह सजग हो जाता है। वह जहा भी जाता है वहां अपनी सजगता के कारण जीवन-दर्शन अवश्य ही कर लेता है।

शान्ति और आनन्द का अनुभव

हमारी बेहोशी, हमारा पागलपन हमे जीवन-दर्शन नही करने देता। हम भूत-भविष्य की कल्पनाओ में समय व्यतीत करते रहते है, किन्तु वर्तमान में कभी नही जीते। जो मनुष्य वर्तमान मे जी लेता है, उसका जीवन सजग हो जाता है, और **जीवन का सजग हो जाना ही जीवन-दर्शन है**। वह जो कुछ भी करता है सजगता के साथ। साधारण मनुष्य करता कुछ है, सोचता कुछ है। उसका मन तो भूत-भविष्य के चिन्तन मे व्यस्त है और मनुष्य हाथो से या पाव से कोई क्रिया कर रहा है तो उसकी क्रिया मे मन समुच्चय न होने के कारण वह क्रिया निरर्थक हो जाती है। हम प्रायः कुछ-न-कुछ सोचते रहते है और वह सोचने के वाहुल्य के कारण ही कुछ मानसिक रोगो से पीड़ित लोगो को पागल-खाने जाना पडता है। पागलो मे भी सव यही सोचते रहते है। वे भी शेखचिल्ली की तरह हवाई किले वनाते रहते है। यदि हम भी ऐसा ही करते है, तो हम जी तो रहे है, किन्तु जीवन-दर्शन नही कर रहे है। हमारा स्वय के प्रति सजग हो जाना, अन्तर्मुख हो जाना जीवन–दर्शन है। जब हम साक्षी व तटस्थ भाव से अपने उठते विचारो के प्रति सजग हो जाते है, तो हमारे विचार निर्वल पड विलीन हो जाते है एवं मन निर्वल हो जाता है और ऐसी ही अवस्था मे मन शान्ति तथा आनन्द का अनुभव करता है। **शान्ति तथा आनन्द का अनुभव करना ही जीवन-दर्शन है।**

जीवन-कला

जीवन एक उत्तम कला है। जिसे जीने की कला आती है वह सभी परिस्थितियो में जीवित रह सकता है।

एक कलाकार बहुत अच्छी वायलिन बजाता था। एक बार एक कला-प्रेमी राजा उसकी वायलिन सुनकर बेहद मुग्ध हो गया। राजा ने कलाकार को बहुत धन दिया। उसकी जेबें हीरे-जवाहरातों से भर दी। वह कलाकार जब जंगल मे से गुजर रहा था तो डाकुओ ने उसे चारो ओर से घेर, पिस्तौल दिखा उससे सब धन छीन लिया। यहां तक कि उसकी वायलिन भी उससे छीन ली। पर कलाकार इस दशा मे भी हसता रहा। अंत में उसने डाकुओं से कहा कि आपने चाहे सबकुछ मेरा ले लिया पर मेरी वायलिन तो मुझे दे दो।

डाकुओ को उसके इस साहस को देख बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सोचा कि लकड़ी का यह टुकडा हमारे किस काम आयेगा? अत. उन्होंने वायलिन कलाकार को लौटा दी। कलाकार वही एक पेड़ के नीचे खडा होकर वायलिन बजाने लगा। डाकुओं के कान मे भी वह मधुर स्वर गूँजने लगा। डाकुओं का सरदार धीरे-धीरे

उस स्वर पर झूमने लगा। वह सोचने लगा कि **हम इससे सब कुछ छीन लेने के बाद भी खुश नहीं है पर यह कलाकार सब कुछ छीन लेने के बाद भी खुश है।**

स्वर की एकाग्रता ने सरदार के विवेक को जगा दिया। उसे उसी समय सद्-असद् कृत्य का भान हो गया। डाकुओ के सरदार ने उस कलाकार से क्षमा मागी और उसका सारा धन उसे लौटा दिया। कोई दूसरा न छीन ले, इस कारण वे उसको घर तक पहुंचा भी आये।

सच्चे हृदय की वेदना

ससार मे ऐसे अनेक किस्से देखने और सुनने मे आते हैं। **जिसने जीवन-कला सीख ली है, वह सभी परिस्थितियों मे प्रसन्न रह सकता है। उसकी प्रसन्नता परिस्थितियों के अधीन नहीं होती।** यह जीने का आर्ट उसे आता है, जो सच्चे हृदय मे आर्त होता है। उसी के हृदय मे वेदना पैदा होती है। वेदना से ही सभी प्रकार की कलाए जाग्रत होती है। इसीलिये किसी कवि ने कहा है–

" वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान।"

हर देश-काल-वस्तु मे समाधानपूर्वक जीना सब से बड़ी कला है। जिसने इसको सीख लिया उसने सब कुछ सीख लिया। वह हर हालत मे प्रसन्न एव मस्त रह सकता है। अत. मानव को जीने की कला आनी चाहिये। यह भगवान के भरोसे पर अपने को छोड निज कर्तव्य पालन में समाई हुई है।

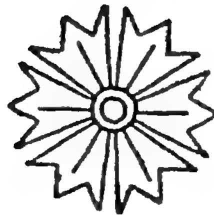
卐 卐 卐

मिथ्यात्व का भान

एक स्त्री वडा ही सुन्दर सोने का हार खरीद लायी। उसे देखकर उसकी पडोसिन, जो एक गरीव घराने की स्त्री थी, का भी मन ललक उठा और उसे भी वैसा ही हार प्राप्त करने की लालसा हो गयी। जव घर मे पति आया तो उसने वैसे ही हार की माँग की। यहाँ तक कि वह औरत जिद पकड़कर बैठ गयी। मुझे एक सोने का ऐसा ही हार लाकर अवश्य दो। पति ने वहुत टालमटोल की, किन्तु जव वह स्त्री मानी नही तो पति ने हार लाना स्वीकार किया। पति एक नकली हार दूसरे दिन एक खूवसूरत डव्वे मे वन्द करके ले आया और बोला कि देखो, मेरे पास तो पैसे थे नही, अत मै अपने एक मित्र से उधार लेकर तुम्हारे लिए यह हार खरीद लाया हूँ। इसकी कीमत ढाई हजार रुपए है। तुम इसको सँभालकर रखना। रोज-रोज नही पहनना अन्यथा लोग देखेगे और चर्चा करेगे कि इनके घर मे इतना कीमती हार कैसे आया ?

उनकी इन वातो को घर का नौकर सुन रहा था। वह उस वनावटी हार को सच्चा हार समझ तीसरे ही दिन लेकर भाग

गया। स्त्री तो सिर पीटकर रोती रही किन्तु पतिदेव मन-ही-मन हँस रहे थे। क्योकि वह हार स्त्री के लिए सच्चा था और पति के लिए बनावटी एव मिथ्या था। इसी प्रकार जिनको संसार के मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है उन लोगों को संसारी शोक, मोह नहीं सताते। वे हर परिस्थिति में प्रसन्न रहते है। संसार को मिथ्या समझने वाले इसके शोक मोह से परे हो जाते है। जो संसार को सत्य समझते है वे संसार के लिए रोते है, बिलखते है। असत् मे सत्-बुद्धि ही हमे खराब कर रही है। इसी का नाम भ्रम है। जब यह भ्रम मिट जायगा तो हमे वास्तविक आनन्द की अनुभूति होगी और हम सदा प्रसन्न रहेगे।



तटस्थ-दर्शन

वेदान्त-सत्सग-मण्डल जव कभी विशाल समारोह चौपाटी या क्रास मैदान मे करता है, तो जनता के सुनने के लिए लाउड-स्पीकरो का विशाल प्रवध किया जाता है। जव वहा पर प्रवचन व भाषण होते है तो स्पीकर का मिस्त्री उसकी ध्वनि की स्पष्टता का पूरा-पूरा ध्यान रखता है कि कही उसमे किसी प्रकार की खड-खडाहट या कोई खरावी न हो। उस समारोह के बीच वह वहा पर होने वाले प्रवचनो को कान से सुनता तो है, किन्तु वह इस वात का ध्यान नही रखता कि वोलने वालों का तात्पर्य क्या है ? उसका लक्ष्य केवल इसी पर केन्द्रित रहता है कि इसकी ध्वनि ठीक से सुनाई दे रही है या नही ? उसका ध्यान कहे वचनो पर नही है, अत वह ध्वनि तो सुनता है परन्तु भाषण के शब्दो का उस पर कोई प्रभाव नही होता।

इसी प्रकार इस ससार मे रहकर मनुष्य प्रत्येक वस्तु को केवल द्रष्टा भाव से देखे और किसी के राग-द्वेष मे न फसे। जिस प्रकार कही झगड़ा होता हो, उसे एक तटस्थ मनुष्य देख तो रहा हो, पर उस झगडे में न पड़, केवल साक्षी ही हो, तो वह उस झगड़े

के समीप होकर भी उसके प्रभाव मे नही आता क्योकि वह निर्द्वन्द्व है।

आध्यात्मिक पथ का राही

तटस्थ होकर केवल देखना ही द्रष्टा भाव या द्रष्टापन है।

तीन मास के बच्चे का देखना तटस्थ दर्शन है। उसका न किसी में राग है, न द्वेष, न कोई नाता है न कोई रिश्ता है। उसके सामने जो भी आता है, वह केवल उसे देखता ही है। उससे राग-द्वेष का सबध नही जोडता——जैसे कि लाउडस्पीकर का मिस्त्री केवल ध्वनि की ओर ही ध्यान रखता है न कि भापण के शब्दों के भावों की ओर।

इसी प्रकार आध्यात्मिक पथ का राही केवल द्रष्टा होकर ही देखता है। राग-द्वेष के परिणाम में नही फसता। तभी वह कैवल्य का भागी होता है।

पखे के अन्दर करेट को लाठी मारने से लाठी पखे को ही लगती है, करेट को नही। इसी प्रकार दुख का प्रहार भी अत-करण तक ही सीमित रहता है, आत्मा तक नही पहुचता। 'मै' और 'मेरा' (निजपन) छोड़ देने के वाद, ससार के सुख-दुखो के सबध का स्वय अन्त हो जाता है। मानव ससार मे रहता हुआ भी ससार के दायरे के वाहर-सा हुआ जीवन-मुक्त रहता है।

卐 卐 卐

तत्त्व का अन्वेषण

संसार के फैलाव से उठकर ऊर्ध्वगति की ओर प्रगति करे। प्रायः सभी धर्म इस बात में सहमत है कि प्रत्येक मनुष्य को संसार के विस्तार को न नाप कर अपने देह-भाव से ऊपर उठ आत्मप्राप्ति करनी चाहिये। सभी कर्म सत्य, अहिसा, अभय, अक्रोध, त्याग, शान्ति, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, नीति, अलोलुपता और अभ्युदय को मानते है। सभी धर्म प्राय. दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, अप्रतिष्ठा, असत्य, मोहासक्ति और काम आसक्ति आदि वुरी वातो का एक सा ही निपेध करते है।

सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक

सत् सभी जगह सत् ही रहता है। जैसे प्रकाश सभी जगह प्रकाश ही है। सत् प्रकाश के समान है, सर्वत्र एक ही है। दो और दो चार होते है, ये सभी जगह दो और दो चार ही होगे। साइस के नियम भी सभी देशो मे एक से ही है। इसी प्रकार 'सत्' में सभी जगहो, सभी देशों और सभी काल व सभी कर्मो में कोई अन्तर नहीं आता। नाम-भेद से सर्वत्र एक ही चीज रहती है।

सभी देशों के मनुष्य पंचभौतिक शरीर के ही बने हुए है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, सिख सभी धर्मो के अनुयायी, सभी के शरीर पंचभूतमय ही है। सभी धर्मो में जन्म और मृत्यु होते है। यह बात अलग है कि जन्म एव मृतक संस्कार अलग-अलग ढंग से हों।

तात्विक भेद नहीं

जीवन-काल मे भी शरीर जड़ होता है। शरीर मे जो चेतनता है वह शरीर की नही किन्तु एक चेतन आत्मा की है। मरने के बाद जड़ शरीर को जला दो या दफना दो या गिद्धों को खिला दो-क्या फर्क पड़ता है! सर्वत्र मृत शरीर ठिकाने ही तो लगाया जाता है। **धर्म और मजहब का लेबल तो मनुष्य के जन्म के बाद लगता है।** जब वह जन्मता है तो वह न हिन्दू होता है और न मुसलमान, न पारसी और न ईसाई ही। **उसमें सिर्फ होता है जीवत्व, मजहब नही। भिन्न-भिन्न धर्मो के जो भेद है, वह कर्म-काण्ड के है 'तत्त्व' के नहीं। 'तत्त्व' सबका एक ही है।** ईश्वर भी एक ही है। ईश्वर कभी दो नही हो सकते। वह तो सर्वव्यापी, सर्वत्र है। किसी के मानने या न मानने पर उसकी सत्ता में कोई अन्तर नही पड़ता। यह अपनी-अपनी रुचि की बात है कि किसी ने ईश्वर को निराकार माना और किसी ने साकार। किसी ने दोनो ही मान लिया। जो धर्म के नाम पर लडते है, वे सभी अज्ञानी ही नही वरन् महाअज्ञानी है। उनकी दृष्टि तत्व की ओर नहीं जाती। छोटी-छोटी बातो मे उलझ जाते है। उलझने के कारण उनका मसला सुलझता नही। जैसे कि हिन्दू चोटी रखता है और मुसलमान कटवा देता है। हिंदू सीधे तवे पर रोटी बनाता है और मुसलमान उलटे तवे पर। इन बातो

का तत्त्व से कोई संबध नही है। किसी की वेश-भूषा किसी प्रकार की हो सकती है। किसी ने मस्तक पर तिलक लगाया और किसी ने नही।

मुसलमानों में सूफी मत है, जो कि वेदान्त से विलकुल मिलता-जुलता है। दोनो के सिद्धान्त भी एक ही हैं, हिन्दू 'अह ब्रह्मास्मि' कहते है, वे भी 'अनलहक' का उच्चारण करते है। वेदान्ती हिन्दू है और सूफी मुसलमान, किन्तु तत्त्व मे कोई भेद नही।

धार्मिक प्रतीक

इसी प्रकार धार्मिक प्रतीक भी अलग हो सकते है– जैसे एक ही मक्खन को कागज मे लपेट कर अलग-अलग विक्रेता अपना-अपना लेवल लगा देते है और पृथक-पृथक नाम दे देते है किंतु सव का तात्पर्य एक ' नवनीत ' मक्खन मे ही है न कि उसके रखे हुए भिन्न नामो से।

सारी दुनिया के तत्त्व एक है, पचभूत एक है, जन्म-मरण एक ही प्रकार से होता है, गुण-अवगुण सभी धर्मों मे एक से है तो भेद किस वात का है?

एक ही आदि धर्म

वास्तव मे **एक ही आदि मानव धर्म है जिसे हम सच्ची मानवता कह सकते है, सभी धर्म उसी के रूपांतर है एवं उसी में समा जाते है।** जो वास्तविक वस्तु-ज्ञान है, उसमे कोई अतर नही है। **सर्वत्र पूर्णता को पहुंचा हुआ अध्यात्म-विचार एक ही कोटि पर विश्राम करता है।**

卐 卐 卐

देहभाव की निवृत्ति

देह के ही सारे सम्बन्ध है। पहले हम देह से सबंध जोड़ते है, फिर नाते-रिश्तेदार, मित्र व ससार के अन्य लोगो से सबध जोड़ते है। किन्तु जिस मनुष्य का देह-भाव निवृत्त हो जाता है, उसके लिए देह से संबधित सभी सबध निवृत्त हो जाते है।

देह के साथ संधि का भाव आ जाना ही सबसे वडा संदेह है। देह के साथ सधि हो जाने के कारण कई प्रकार के सदेह उत्पन्न हो जाते है, जैसे कि मै यह देह ही हू। मै देखता-सुनता हू, मै कर्ता भोक्ता हू। करना, पकड़ना, चलना, फिरना, देखना-सुनना इत्यादि सभी कार्य देह के है, किन्तु उसमे स्व की भ्राति हो जाती है। **'मै' को देह के साथ एक करके रखना अज्ञान है और 'मै' को देह से पृथक देखना यही ज्ञान है।**

निवृत्ति के तीन उपाय

देहभाव की निवृत्ति के लिए कई एक उपाय है।

१ – वेदान्त केसरी **स्वामी निर्मलजी** महाराज सरकुशी की मजिल को प्रधानता देते है। वे कहते है कि जब मनुष्य अपने

मस्तिष्क को शरीर से कल्पना द्वारा अलग कर देता है, तो शरीर के जड़त्व के समक्ष जाननेवाला केवल बोधस्वरूप आत्मा ही रह जाता है। चिद् जड़ की जो ग्रन्थि पड़ गयी है, वह खुल जाती है। देह को मनुष्य जड़ जान लेता है और आत्मा का बोध स्वरूप यही है कि चिद् जड़ की ग्रन्थि खुल जाए।

कल्पना से धड़ को मस्तिष्क से अलग कर उसे निहारने से मन निर्विचार हो जाता है। टूटे हुए शरीर से अलगाव हो जाना निज आत्मा का बोध स्वरूप है। यह अमर इस महत्त्वपूर्ण छोटी सी साधना का है।

लौ की प्राप्ति

कई लोगो को इस बात की भ्राति हो जाती है कि यह साधना अमागलिक है। मरने के नाम से लोग डरते है, किन्तु मृत्यु जन्म का ही एक अग है। जन्म का ही दूसरा नाम मृत्यु है, और मृत्यु का ही नाम जन्म। जन्म और मृत्यु के बीच के काल को जीवन कहते है, यह **जीवन तभी जीवन है जबकि इस जीवन काल में हमें लौ की प्राप्ति हो जाती है।** हम बुझे हुए दिये न रहकर उसे सजग कर लेते हैं। जगा हुआ दीपक जगमग होकर चमकता है। इसी प्रकार सजग मनुष्य की लौ जग जाती है और वह जन्म सार्थक कर उसे जीवन बना लेता है।

दूसरा उपाय

स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती एक साधना बताते है कि मनुष्य अगर कमरे मे बैठा है, तो आंख उठाकर यह समझे कि मैं छत पर बैठा हूँ। इससे भी देहभाव की निवृत्ति होती है क्योंकि जो असली देह है, उससे तो हमे आसक्ति रहती नही। हम

काल्पनिक देह को ध्यान मे रखकर देखते है, तो उससे अलगाव पैदा हो जाता है।

तीसरा उपाय

आचार्य श्री रजनीश एक साधना वताते है कि अपनी ही शव-यात्रा अर्थात् अर्थी पर पड़े हुए निज शव को देखो, इर्द-गिर्द खड़े नाते-रिश्तेदारो के दु:ख-भाव को देखो, और फिर इस देह को चिता पर लेटा कर इसके अग्नि-सस्कार को देखो। इससे शरीर की कल्पना भस्मीभूत हो जायेगी और शरीर अलगाव को प्राप्त हो जायेगा।

वास्तव मे देखा जाये तो यह शरीर काल्पनिक है। यह हमारी कल्पना का ही परिणाम है। हमने इसके अन्दर 'मै' बुद्धि कर इसे 'मै' मान लिया। अव कल्पना, कल्पना से ही कटती है।

देह-त्याग से निवृत्त होने के लिए अन्य भी कई साधनाएं है, किन्तु यहा पर विषय को लंवा न कर ऊपर केवल तीन साधनाओ की ही चर्चा की गयी है।

'शरीर' उर्दू भाषा में शरारत को कहते है। यह अपना आवरण जीव पर चढ़ा देता है और जीव इसे ही 'मै' मान लेता है, यही इसकी शरारत है।

देह-भाव से निवृत्त होने के लिए देह से अलग होने की साधना किसी भी साधक के लिए अनिवार्य है। देह की एक इल्लत व उपाधि है। जव देह-भाव की निवृत्ति हो जाती है, तो आत्मप्राप्ति मे देर नही लगती। देह भाव ही आत्मप्राप्ति में वाधक है।

卐 卐

भक्ति और ज्ञान

युक्ति से की हुई भक्ति मुक्ति का कारण बनती है। भक्ति के बिना ज्ञान नीरस है। ज्ञान के बिना भक्ति अंधी है। जैसे किसी दीपक में तेल की स्निग्धता उसके प्रकाश का कारण होती है उसी प्रकार ईश्वर के प्रति प्रेम स्निग्धता तथा आत्मप्रकाश का कारण होता है। भक्ति तो बुनियाद है। भगवत्-साक्षात्कार रूपी भक्त के निर्माण के लिए अगर भक्तिरूपी बुनियाद ही ठीक नही होगी, तो वह मकान कभी भी गिर सकता है। इसी प्रकार भक्ति से ही ज्ञान की नीव बनती है, जिस पर आधारित ज्ञान प्रेममय, स्निग्ध तथा रसपूर्ण होता है। भक्तिपूर्ण ज्ञान से जीवों के प्रति सद्भावना, आत्मीयता, उदारता, स्नेह और प्रसन्नता उत्पन्न होती है।

भक्त का जीवन एक अमर प्रेम रस से ओत-प्रोत छलकते प्याले के समान होता है। भक्त का हृदय प्रेम से द्रवीभूत हो जाता है। उससे किसी भी प्राणी का कष्ट सहन नही होता। वह दूसरे के कष्टों को अपना कष्ट समझता है। दूसरे की सेवा अपनी सेवा मानता है। वह तन, मन, धन से भगवान की पूजा-अर्चना में

तन्मयतापूर्वक लगा रहता है। प्रत्येक प्राणी की सेवा में भी सर्वेश की सेवा समझता है। वह किसी से द्वेष नही करता। सबसे मैत्री-भावना रखता है। सभी प्राणियो के हृदय में भगवान के दर्शन करता है। प्राणियों के हृदय को ही वह भगवान का मदिर समझता है। किसी भी प्राणी को अपशब्द कहना या उसके हृदय को दुःखी करना अथवा उसके हृदय को ठेस पहुंचाना, भगवान के मदिर को ठेस पहुचाने के बराबर मानता है।

पराभक्ति

वह निष्काम बुद्धि से लोकसेवा करता है। वह सदा सरल, नि.स्वार्थ भाव से रहता है। ईश्वर ने जिस परिस्थिति में उसे रखा है, उसी में वह सतोष मानता है। **भक्ति कोई ज्ञान से भिन्न नहीं, वह तो स्वयं चिद् ब्रह्म तथा ज्ञान और आनद ब्रह्ममय या तद्रूप भक्ति है** जो कि अद्वैतानुराग से प्राप्त होता है। भक्ति की पराकाष्ठा पर जा कर भक्त, भक्ति और भगवान तीनों एक हो जाते है, जहा पर द्वैत रहता ही नही। भक्त भगवान और भगवद्-विभूति--दोनों के साथ अद्वैत को प्राप्त हो जाता है। उसी का नाम है-पराभक्ति। **चाहे एक को निन्यानवे मे मिला दे, चाहे निन्यानवे को एक में मिला दे, दोनों का तात्पर्य पूर्णता में है। एक को निन्यानवे में मिलाना भक्ति है और बाकी सबको एक मे मिला देना ज्ञान है। मैं को तू में मिला देना भक्ति है और तू को मैं में मिला देना ज्ञान, दोनों मे कोई अन्तर नहीं।** या तो 'तू-तू' करते तू मे मैं को समाप्त कर दिया जाय अथवा 'मैं-मैं' करते-करते तू को मै में समाप्त कर दिया जाय। तात्पर्य द्वैत निवृत्ति में है।

卐 卐 卐

निर्भय जीवन-यात्रा

कुल्लू वैली मे मनाली है। मनाली से तेरह हजार फुट से ऊपर की वुलन्दी पर रोहताग दर्रा है। मनाली से यहां डीलक्स वस जाती है। एकदम ऊपर की चढ़ाई और विकट रास्ता हृदय मे भय उत्पन्न कर देता है। वस-सवारो मे से वहुत से निर्भीक लोग तो आनन्द के साथ प्रकृति के सौदर्य का अवलोकन करते एव पहाड़ों के मनोरम दृश्यो का आनन्द लेते-लेते सफर करते है, किंतु सवारो मे से कुछ लोग जो तंग और विकट रास्ते की कठिनाई से भयभीत होते है, इस अपूर्व सौन्दर्य के निरीक्षण के आनन्द से वचित रह जाते हैं। जव रास्ते मे वस मोड़ लेती अथवा तग रास्ते से गुजरती तो उनमें से वहुतों के ऊपर का दम ऊपर और नीचे का दम नीचे रह जाता।

यह वात केवल ऐसी विकट यात्राओ मे ही नही है वल्कि हम जगत मे भी भय के कारण अपनी जीवन-यात्रा का पूरा आनन्द नही ले पाते। इस ससार-यात्रा मे भी जो लोग निर्भीक होकर विचरते हैं केवल वही जगत के सौदर्य का आनद ले पाते है।

अनेक भय

जगत मे प्रायः कोई न कोई भय लगा ही रहता है। व्यापा-

रियो को सरकारी महकमों का भय लगा रहता है। परिवार मे किसी के गुजरने का भय भी कम नही है। अपनी वृद्धावस्था का भय भी होता है। किसी को रुग्ण हो जाने का भय सताता है। इस प्रकार **अनेक भयों के कारण संसार में जीवन व्यतीत करने का जो असली आनन्द है जीव उससे वंचित ही रह जाता है।** विविध प्रकार के भय ससारी जीव को निरानन्द वना देते है।

भीत को आनन्द नहीं

मनुष्य का मन एक समय मे एक ही काम कर सकता है। अगर वह भयभीत होता है तो आनन्दित नही हो पाता, क्योकि **भीत को आनन्द नहीं मिल पाता।** अगर उसे आनन्द की प्राप्ति चाहिये तो उसे भय से निवृत्त होना ही पड़ेगा।

लोनावला के रास्ते मे वरसात के दिनो में वड़ी-वड़ी ऊंचाई से पानी गिरता है। कल-कल करता या लहराता हुआ जल नीचे गिरता हुआ सुन्दर प्रतीत होता है। उसको परमात्मा गिराता है तो गिरता है, जव बहाता है तो वह बहने लग जाता है। उसका अपना कोई चुनाव नही होता। पानी मे उठती लहरे कभी चुनाव नही करती कि अमुक परिस्थिति मे हम रहे। हमारी इतनी ऊचाई-लम्वाई हो। वे तो जल के प्रवाह के साथ वहती चली जाती है, उठती है, गिरती है, फिर उठती है।

शरणागति का मुख्य तत्त्व

पहाड़ों के रास्ते में पहले चढाई और तव उतराई आती है। पुनः उतराई और फिर चढाई आती है। कही-कही यही क्रम अनेक वार चलता है। कही-कही पहाड़ो के अन्दर रास्ते अपने-आप वन जाते है, घाटियॉ और दर्रे वन जाते है। वे रास्ते यह

नही कहते कि हमे अमुक ढग से ही वनाओ। वे जैसे वनाये जाते है उसी मे परमात्मा की मर्जी समझते है। मनुष्य भी अगर परमात्मा की मरजी पर अपने आपको छोड दे, अपने आपको परमात्मा को समर्पित कर दे, परमात्मा जैसे रखे वैसे ही रहे तो जीवन की वहुत-कुछ समस्याए स्वय हल हो सकती है। ऐसी स्थिति मे आशा-कामना और तृष्णा नही रहेगी। वहा केवल प्रभु की इच्छा ही काम करती है। यही शरणागति का मुख्य तत्त्व है कि शरणागत स्वय को सर्वेश के ऊपर छोड सर्वथा निर्भय हो जाता है।

पानी का गिरना, बहना सब प्रेरित है, इसी कारण वह अपने लक्ष्य सागर तक पहुचकर उससे एक हो जाता है। जो मनुष्य प्रभु प्रेरणा स्वीकार कर कर्म करता है वह निर्द्वन्द्व होकर जगत में विना आकर्पण-विकर्षण के जीता है।

आत्मविकास

जगल मे वड़े सुन्दर-सुन्दर फूल खिले होते है। वद्रीनारायण के रास्ते मे हेमकुण्ड एक स्थान है, जहा गुरु गोविंद साहव ने वड़ी तपस्या की थी। वहा अनेक प्रकार के फूल स्वाभाविक ही पैदा होते हैं और खिलकर उस गली को सौदर्य प्रदान करते है। उन फूलो को देखने के लिये कुछ लोग जाते है। वे फूल खिलते हैं अपनेतयी और अपनी प्रसन्नता के लिये, चाहे उन्हे कोई देखे या न देखे। यह उनका आत्मविकास है।

ससार के लोगो मे दिखावट अधिक और वास्तविकता कम है। अधिकतर काम दूसरो को दिखाने के लिये किया जाता है। अगर कोई छोटा-सा दान देता है या छोटी सेवा भी कर देता है तो दूसरे दिन सवेरे उठते ही समाचार पत्र देखता है कि हमारे दान

की चर्चा पत्र में आयी या नही । फूलों का जीवन स्वाभाविक और सहज और सरल है । वे अपनी प्रसन्नता से खिलते है । यह दूसरी बात है कि उनकी प्रसन्नता से दूसरे भी प्रसन्न हो । इसी प्रकार का जीवन अगर मनुष्य का भी हो जाये तो उसके जीवन मे भी स्वाभाविक सहजता और सरलता आ जायेगी । वह प्रकृति के सौंदर्य को प्राप्त कर सकेगा । **सच्चे भगवत् शरणागतों के जीवन अनन्तकाल तक संसार के श्रेष्ठ पुरुषों के आदर्श बने रहते है** । वे ही निर्भय होकर दृश्यों को देखते है एव स्वय भी दर्शनीय लगते है।



संशयात्मा विनश्यति

प्राय: देखा जाता है कि बहुत से साधक साधना न कर 'अगर-मगर' की शंका मे ही रह जाते हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि निश्चयात्मक नहीं होती। वे उस नौकर की तरह होते हैं– जो कि अगर-मगर लगाकर मालिक के काम को टाला करता है।

एक बार ऐसे ही नौकर से मालिक ने कहा कि डाक्टर बुला ला। उसने कहा कि वह वहाँ नही हुआ तो? यह सुनकर मालिक ने कहा किन्तु जा तो सही, यहां बैठे-बैठे कैसे कहता है कि वह नही मिला तो? नौकर ने कहा कि अगर वह मिल भी गया और न आया तो? मालिक ने जब और आग्रहपूर्वक कहा तो नौकर ने कहा कि अब वर्षा हो रही है। मैं कैसे जाऊ? मालिक ने बाहर झाक कर देखा और कहा कि बाहर तो अब बादल भी नही है, फिर वर्षा कैसे हो रही है? यह सुनकर नौकर ने कहा कि अभी-अभी गीली बिल्ली बाहर से आई है, इससे मालूम होता है कि बाहर वर्षा हो रही है।

मालिक का दर्द इन बातो के दौरान कुछ ठीक हो गया तो उसने नौकर से कहा कि अच्छा, दरवाजा बद कर दे। नौकर

बोला कि इतने सव काम तो मैंने कर दिए है, अव यह एक काम आप ही कर ले तो ठीक हो !

इसी तरह के अगर-मगर से साधक अपने लक्ष्य तक नही पहुच सकता, क्योकि साधक की बुद्धि तो निश्चयात्मिका होनी चाहिए। **अगर-मगर करने से जिन्दगी यूँ ही हाथ से निकल जाती है।** सिवा विनाश के अन्य कुछ नही वचता। गीता मे भगवान कृष्ण की उक्ति है—"सशयात्मा विनश्यति"। अतः किसी भी प्रकार की साधना बिना किसी अगर-मगर के पूरी करनी चाहिये तभी लक्ष्य सिद्ध हो सकेगा।



अंतरात्मा संसारी नहीं

एक दिन मैं भोईवाड़ा भोलेश्वर (वम्बई) की एक दूकान पर बैठा था कि पासवाले मकान मे से किसी के मरने की खबर आई। इतने मे ही रोटती-पीटती कई स्त्रिया भी वहां आ गयी। वहा उन्होने एक गोल दायरा वना लिया। फिर उन्होने जोर-जोर से छाती पीट-पीटकर रोना शुरू कर दिया। उनका छाती पीटना, विलकुल सेना की कवायत की तरह वाकायदा ताल-स्वर से हो रहा था। सवके हाथ एक ही समय पर एक जैसी आवाज के साथ उठते, सीने पर पडते और नीचे गिरते थे। इस प्रकार वहाँ एक विशिप्ट स्वर-ताल के साथ रोना-पीटना चलने लगा। यह देख कर मेरे मन मे कौतूहल उत्पन्न हुआ। मैंने मुनीम से पूछा कि इस प्रकार से उन्होने रोना कही से सीखा है क्या?

मुनीमजी वोले– हा, इनमे आधी स्त्रियां ऐसी होती है जिनका कि मरण के अवसर पर जाना और इस प्रकार से रोना एक पेशा होता है। ये रोने-पीटने के भी पैसे लेती है। जितनी अच्छी तरह से ये रो सकती है उतनी अच्छी तरह से मरनेवाले के घरवाले भी शायद नही रो सकते। इनका रोना-पीटना एक विशिष्ट कला का प्रदर्शन ही वन जाता है। स्पष्ट है कि इनका यह रोना केवल

ऊपरी होता है। रोना रोने की ऐक्टिंग के सिवा अन्य कुछ नही होता। इन्हे अपनी सुंदर ऐक्टिंग पर भीतर से प्रसन्नता तथा ऊपर से शोक होता है।

संसार और संसारी

जिस प्रकार ये स्त्रिया रोने के हाव-भाव करते हुए भी हृदय से तटस्थ रहती हैं, अन्तर से अपनी निर्लिप्तता को नही भूलती, उसी प्रकार मनुष्य स्वय संसार के सग के प्रसगों मे अपनी आध्यात्मिक प्रसन्नता को न भूले। तटस्थ भाव से ससार के प्रति व्यवहार करे। **समझे कि यह संसार है, पर मेरी अन्तरात्मा संसारी नहीं है**। भ्रम ने उसे ससारी सरीखा बना रखा है। वह जितना उदासीन रहेगा उतना ही मोक्ष की ओर बढ़ेगा। ससार से उदासीन रहे बिना यह जगत बन्धन का कारण बन जाता है।

उदासीन का कर्मण्य कर्म से कोई सबध नही रह जाता। वह सुख-दुःखों मे सुख-दु खों को भोगने का व्यावहारिक अनुकरण करते हुए भी भीतर से उनसे अलग ही रहता है। यह स्थिति प्रत्यक्ष प्राणी की हो सकती है यदि वह स्वय को जगत से निर्लिप्त मान ले।

卐 卐 卐

छिद् जड़ ग्रन्थि

त्रिवेन्द्रम के एक सार्वजनिक हास्पीटल में मैं गया। वहां मैं वी. वी. सेक्शन अर्थात मुर्दों को काटने का विभाग, जहाँ कि मेडिकल विद्यार्थियो को शरीर विज्ञान सिखाया जाता है, देखने गया।

जब भी कोई आदमी लावारिस मर जाता है, तो उसे वहां ले जाते है। फिर उसमे एक ऐसी दवा भर देते है, जिससे मुर्दे का शव छः मास तक खराब नही होता। वहां स्त्री-पुरुपो के शव को ऐसे रख दिया जाता है जैसे मालगोदाम में लकड़ी के शहतीर रखे जाते है।

विद्यार्थियो को शरीर विज्ञान सिखाने के लिए रोज वहा से एक या दो मुर्दे निकाले जाते है। फिर कोई उनकी आख, कोई कान और कोई पेट काटता है, जिससे उन्हे शरीर विज्ञान की साक्षात जानकारी होती है। जब वहा विद्यार्थी मुर्दो को काट रहे थे, उस समय वहां शरीर की जडता प्रत्यक्ष प्रतीत हो रही थी तथा उसके अन्दर पहले जो चेतना सूक्ष्म शरीर के रूप में जो थी वह अलग हो गयी थी और यह जड शरीर यही रह गया था, जिसे न अपना पता था न दूसरो का। यह वही शरीर था जिसमे

जरा सुई चुभने पर मनुष्य चिल्ला उठता है। अव उसी शरीर को नश्तरों द्वारा काटा जा रहा था, जिसका शरीर को कोई पता न था।

अस्तित्व का आधार

इस दृश्य से मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हुआ कि शरीर जड़ है और **इसमें ज्ञान शक्ति इससे अलग है और उन दोनों के मिश्रण से अहंभाव उत्पन्न हुआ है।** अहभाव से ससार, मैं-मेरा, तू—तेरा सब पैदा हो गये। शरीर के अन्दर फैला रक्त, मज्जा, नस, नाड़ी तथा चर्म को कुछ पता नही कि ये क्या है? वहा तो केवल उसके अन्दर जो चेतन विराज रहा है, उसी से हमे यह पता चलता है कि पाव को काटा लगा। पांव को काटा लगने का ज्ञान, ज्ञान का सूचक है। यदि कही ज्ञान न हो, तो हमें काटा लगने का पता नही चलेगा। काटा लगने का पता हमे ज्ञान से ही चलता है। हम ज्ञान से ही सुनते-बोलते और चलते है। इन सव क्रियाओ का हमारे अस्तित्व का मूल-भूत आधार ज्ञान है। यदि शरीर मे से ज्ञान निकाल दिया जाये तो फिर उसे चाहे लकड़ी की तरह जला दो, गाड़ दो, उसे कुछ भी पता नही चलता। फिर तो यह पंच-भौतिक शरीर पंचभूतो मे ही मिल जाता है।

मनुष्य यदि जीवनकाल में ही इस चिद्जड़ की ग्रंथि को खोल सके, तो उसका जीवन सफल हो जाये।

हमने शरीर को मेरा मान लिया है, यही तो मूल मे भूल है, जवकि शरीर न मै है, न मेरा। यह तो एक साधन है।

चेतन की आवाज

टेलिफोन आपरेटर कहती है कि दिल्ली से वात करो, तो

उसका यह तात्पर्य होता है कि दिल्ली स्थित किसी व्यक्ति से वात करो। वात करनेवाला चेतन और टेलीफोन का चोगा जड़ है। चोंगा आवाज को सुनाने का साधन तो है, पर आवाज स्वयं चोंगे की नहीं। इसी प्रकार शरीर एक साधन है, जिसके अन्दर शक्ति ज्ञान की है, जिससे यह देखता-सुनता-चलता-फिरता और सभी कुछ करता है।

शरीर मे होते हुए भी हम शरीर की जड़ता व आत्मा की अमरता को पहचान ले, तो हमारी चिद्‌जड़ की गुत्थी खुल जाती है।

प्रत्यक्ष अनुभव

यह सत्य जितनी जल्दी हास्पीटल में उस काटने के विभाग को देख समझ में आता है, उतना प्रवचनों द्वारा नहीं। उस विभाग मे तो हम शरीर की जड़ता का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

श्मशान भूमि मे भी जब शव को लकड़ियों पर रख देते हैं तो उसे अग्नि दाह का कुछ पता नही चलता, किन्तु जब मनुष्य जीवित होता है, तो जरा सी आंच लगने पर उंगलियों को पीछे खींच लेता है। यही उस चेतन की चेतना है, जिससे हर शरीर देख–सुन–बोल और चल रहा है।

卐 卐 卐

खण्ड दूसरा

अहंकृति

• जो मनुष्य आत्मनिरीक्षण न करके अपने को सदा निर्दोष मानता है और दोषों की ओर देखता ही नहीं, वह अहंकारी बना रहता है। •

— हाफिज खुरासानी

क्रोध - पिशाच

एक बार बम्बई स्थित नरीमन प्वाइट पर मै घूम रहा था कि अकस्मात किसी औरत के चिल्लाने की आवाज आई। मुझे भी यह जानने की इच्छा हुई कि यह आवाज किसकी है। जव मै उसके पास गया तो मैने देखा कि उसका पति उसे घसीटकर ले जा रहा है। वह उसे समुद्र में फेकने की चेष्टा कर रहा था, किन्तु वहां के लोगो ने शोरगुल किया और उस स्त्री को वचा लिया।

उस स्त्री के पति से पूछा गया कि तुम ऐसा क्यों कर रहे हो?

वह बोला—मै इसे समुद्र मे फेकना चाहता हूं।

आखिर हुआ क्या ? ऐसा क्यों करना चाहते हो ?

उसने कहा – जव मै काम करके आया तो मैने देखा कि आटा-दाल-चावल इत्यादि रसोई के सभी साधन घर में मौजूद है, फिर भी इसने खाना नही वनाया। मै इसका पति हूं। नरीमन प्वाइंट पर वन रही विल्डिग में काम करता हूं। वही पर हमारी झोपड़ी है, जिसमे हम दिन गुजारते है।

पति की यह वात सुनकर मेरे मन मे आया कि यह आदमी मनुष्य की आकृति मे पिशाच है।

मनुष्य क्रोधावेश मे आकर पशुतुल्य हो जाता है। उसके चेहरे की आकृति इतनी विगड़ जाती है कि अगर उसे उसकी क्रोधपूर्ण आकृति का चित्र खीच कर दिखाया जाय तो और तो क्या, वह स्वयं भी उसे विलकुल पसन्द न करे।

अपने आपका विस्मरण

जव हम क्रोधावेश मे होते है, उस समय हम अपना मुंह दर्पण में देखे तो वहुत हद तक हम इस समय क्या हो रहे है, यह हमारी समझ मे भलीभाति आ जाये। क्योकि जव हम क्रोध करते है, तो हम पूरे होश मे नही रहते। क्रोधावेश में हम इतने वह जाते है कि अपने आपको भी भूल जाते है। हमारी सारी मुखाकृति विगड़कर वड़ी वीभत्स वन जाती है।

क्रोध बोध को खा जाता है; क्योकि क्रोध वोध और विवेक का पूरा विरोधी है। क्रोध एक अवोध और विवेकहीनता की निशानी है। क्रोध हिंस्र पशु के समान है। जव मनुष्य मे क्रोध आता है तो उसके अन्दर हिंसक पशु का वास हो जाता है। इसी कारण वह मनुष्य न रहकर नर की आकृति में पशु हो जाता है।

क्रोध के आवेश मे कोई किसी की हत्या कर देता है, जिसके परिणामस्वरूप उसे सारी उम्र कैद की सजा भोगनी पड़ती है या फांसी के तख्ते पर लटकाया जाता है। क्रोध में मनुष्य क्या कर रहा है, यह उसे पता नही चलता। क्रोध उसके ज्ञान पर परदा डाल लेता हैं। क्रोधी क्रोध की दशा मे कुछ अच्छा-वुरा नहीं सोच सकता।

अब एक दूसरा उदाहरण लीजिये। रविवार का दिन था। मै प्रेमकुटीर के सत्सग से उठकर कार को स्वयं चलाते हुए घर की ओर आ रहा था। तभी मरीन ड्राइव पर देखा कि एक स्त्री मार के डर के मारे आगे-आगे भाग रही है और एक पुरुष उसको पीटने के लिए उसके पीछे दौड़ा जा रहा है। यह देख मैने गाडी दौड़ाकर उसके आगे कर ली और उस पुरुष को आवाज देकर पूछा कि तुम इसे क्यो मार रहे हो? उस पुरुष से जब मै बाते करने लगा इतने मे वह स्त्री आगे भागी। मैने जब उस आदमी को डाँटकर पुनः पूछा कि क्यो मार रहे हो, तो उसने कहा कि यह मेरी पत्नी है, इसका आचरण शुद्ध नही है।

मैने पुनः पूछा कि क्या मारने से इसका आचरण शुद्ध हो जायेगा?

इतने में तो स्त्री एक फर्लांग आगे निकल गयी और पुरुष उसके पीछे दौडा। मैने भी अपनी गाड़ी उसके साथ-साथ रखी, ताकि वह अपनी पत्नी को मार न सके। अब वह स्त्री बस्ती की ओर आ गयी जहा कि बहुत से लोग आते-जाते थे। इस तरह बड़ी मुश्किल से उस स्त्री की जान बची।

यह भी क्रोधावेश का एक प्रमाण है, जो कि प्राय. हर जगह देखा जाता है। ऐसे व्यवहार प्रायः छोटी बस्तियो मे अधिक होते रहते है। वे लोग प्रागः अशिक्षित और गवार होते हैं। दाम्पत्य जीवन के रहस्य को भी नही समझते, इसी कारण वे इस तरह का व्यवहार करते है। उन्हे नरक में जाना नही पडता, वे जहा रहते है उसे ही नरक बना लेते है। घर में लडाई, पडोसियो मे लड़ाई और जहा काम करते है, वहा भी लड़ाई करते रहते हैं। जहा लड़ाई-झगड़े होते है, वह स्थान नरक से भी बदतर बन जाता

है। ऐसे लोग मनुष्य के रूप मे पशु ही रहते है। जब तक कि लड़ने-झगडने की पशुता उनमें विद्यमान है वे कभी सच्चे सुख का अनुभव नही कर सकते।

अब आखो देखी एक तीसरी घटना इस प्रकार है–एक बार लोनावला स्टेशन के प्लेटफार्म पर मै खड़ा था। वहां मैने देखा कि एक स्त्री और पुरुष साथ-साथ खड़े थे। पुरुष ने स्त्री के लिए साड़ी खरीदकर लायी और उसे दिखा रहा था। स्त्री को साड़ी पसन्द नही आयी। उसने इस पर कुछ कह दिया। पति को क्रोध आया और उसने उसी समय स्त्री के मुंह पर एक घूसा दे मारा। घूसा इतने जोर का लगा कि स्त्री के मुह से खून निकलने लगा।

पागल जैसी हरकतें

किसी भी भले आदमी को ऐसी घटनाएं देखकर दु:ख और आश्चर्य होता है। किन्तु ये सब पागलपन की निशानी ही है। पागल वे ही नही जो पागलखाने मे हैं। पागलखाने के बाहर भी बहुत से लोग बहुत अशों मे पागल ही है, जो जरा–जरा सी बातो पर ऐसे धन्धे करते है। पर उनका पागलपन अभी शायद इस हद तक नही पहुचा कि वे आते-जाते लोगों पर पत्थर मारे और पुलिस पकड कर उन्हे पागलखाने भेज दे।

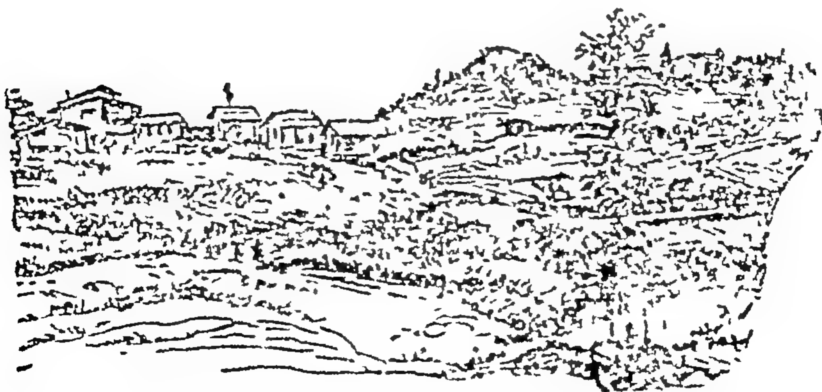
क्रोध भी एक पागलपन है। मनुष्य इसके आवेश मे आ अपने आपको भूल जाता है। वह कब क्या कर बैठता है, इसका बोध भी नही रखता है। यही कारण है कि पहले तो विवेकी क्रोध ही नही करते और यदि उन्हे क्रोध आ भी जाय, तो वे उस दशा में कोई कार्य नही करते––विचार कर कदम रखते है।

मानव-पशु

पशु में भी मन है, किन्तु बुद्धि नही, विवेक की कमी है, इस-लिए वह पशु कहलाता है। मनुष्य मे भी यदि ऐसा ही हो जाय तो वह मनुष्य के रूप में एक पशु ही होगा। अतः मानव को किसी भी दशा में विवेक और विचार का त्याग नही करना चाहिये। जो भी काम करना हो, विवेक और विचार के साथ करना चाहिये।

संज्ञाहीन पिशाच

क्रोध का अनुभव रखना भी क्रोध को न आने देने मे सहायक होता है। पर जो क्रोध मे अपने को भूल जाते है वे न जाने क्रोध मे क्या-क्या कर बैठते है। **क्रोध मानव को संज्ञाहीन पिशाच बना देता है।** पिशाच को इतनी सज्ञा तो रहती है कि यह वह है। किन्तु क्रोध तो अपने को, दूसरे को एवं अन्यों के साथ अपने संबधों को, सबको भूल जाता है। उसे यह भी खयाल नही रहता कि जो मै कर रहा हू इसका अजाम क्या होगा। वह थोड़े से क्रोधावेश मे जीवन भर की तपस्या तथा जीवन के सारे सुखो को नष्ट कर बैठता है।



प्राणी और अहंभाव

लोनावला मे एक हरे रग का सॉप वृक्ष के हरे पत्तो मे मुंह में छिपकली लिए हुए इधर-उधर घूम रहा था। साँप का रग विलकुल पत्तो और घास की हरियाली-सा लगता था, जिससे किसी को भी सन्देह नही हो सकता था कि यह सॉप है। चूँकि वह थोड़ा हिलडुल रहा था इसलिए अचानक नजर पड़ने पर पता चला कि यह वृक्ष का तना नही वल्कि हरे रग का साँप है। वह छिपकली को मुह मे लेकर अपने शिकार के मोह में इतना मशगूल था कि पाच-सात आदमी के इकट्ठे हो जाने पर भी वह छिपकली को लेकर भागा नही वल्कि वही उसका गला दवाता रहा ताकि थोड़े-वहुत प्राण जो उसमे शेष है वे भी न रहे। फिर वह उसे खा जाने को लालायित था। छिपकली के स्वादिष्ट भोजन की कामना मे साँप की अपनी जान भी खतरे मे थी। साँप के मुह मे यदि छिपकली न होती तो वह ऐसे समय मे प्राण वचाकर भाग जाता ! परतु उसका शिकार उसके मुह मे था। वह शिकार को छोड़ना नही चाहता था। ऐसी हालत मे जो भी तमाशा देख रहे थे, अगर उसे मारना चाहते तो वडी आसानी से मार सकते थे। इसी प्रकार मनुष्य अपनी कामनाओं की पूर्ति

मे इतना तल्लीन हो जाता है कि अपनी जान की भी बाजी लगा देता है । उसे अपनी मौत की भी चिन्ता नही होती ।

समाहित भाव

ईश्वर ने ऐसे-ऐसे प्राणी विलकुल प्रकृति के वातावरण से मिलते-जुलते वनाए है कि वे सुरक्षित रहे । उनके शिकारी को उनका पता भी न चले । जैसे, हरी घास व हरे वृक्षो के अन्दर हरे साँप, भूमि मे भूमि के रग से मिलते-जुलते कीड़े-मकोड़े । इसी प्रकार प्रकृति मे जहाँ जैसा रग होता है वहा वैसे ही रग के जीव-जतु दिखाई पड़ते है । प्रकृति के साथ एक हो जाने पर फिर उनका व्यक्तित्व निजी तौर पर नही दिखाई देता, इससे उनकी जान वची रहती है । इसी प्रकार **जो मनुष्य अपने व्यक्तित्व को और अपने अहं को ब्रह्म में समाहित कर देते है, वे उसके साथ एकत्व प्राप्त कर लेते है, वे संसार के भयंकर उपद्रवों से वच जाते है । मनुष्य मारा भी तभी जाता है, जब इस साढ़े तीन हाथ के शरीर मे अहंभाव कर अपने आपको अपरिमित एवं सब कुछ मानने लगता है ।**

तीन प्रकार की उपलब्धियां

जव मनुष्य अपने आपको छिपा कर, प्रकृति के साथ एक होकर रहता है, तव ससार मे वह निम्न तीन प्रकार की उपलब्धियां प्राप्त करता है—(१) ससार से वचा रहता है, (२) उसके ऊपर किसी प्रकार का प्रहार नही होता, (३) वह अपनी साधना मे सलग्न हो अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है ।

जो मनुष्य साढे तीन हाथ के शरीर मे अहंभाव कर उसी को 'मैं-मैं' कहता रहता है, उस मनुष्य का भी गला एक दिन में-मे करने वाली वकरी की तरह कट जाता है ।

अहंकार और अंधकार

मनुष्य अहप्रधान होता है। वह प्रत्येक कार्य को अहं भाव से स्वार्थपूर्ण दृष्टि से करता है।

अहकार एक आवरण है। एक दीपक के ऊपर हाड़ी को उलट दे तो दीपक मे प्रकाश होते हुए भी अधकार हो जाता है। अधकार और प्रकाश के बीच में एक दीवार खड़ी हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप अन्धकार-ही-अधकार छा जाता है। ऐसे अंधकार का ही दूसरा नाम अहंकार है।

तिल-तिल कर नष्ट होना

जहाँ अज्ञानता होती है, वहाँ अन्धकार होता है। दीपक के ऊपर हाँड़ी दीपक को आक्सिजन से वचित रखती है और दीपक अपने ही द्वारा उत्पन्न की गई कार्बन-डाइ-आक्साइड मैल से घिरे रहने से थोड़ी ही देर में बुझ जाता है। यह मैल ज्वलन में सहायक नही। इसी प्रकार अहंकारी मनुष्य अपने इर्द-गिर्द विकार के वातावरण खड़े कर लेता है जिससे उसकी प्राणशक्ति क्षीण हो जाती है और उसमे दुःखी होता हुआ वह एक दिन इस संसार से कूच कर जाता है। इस प्रकार तिल-तिल कर जीवन भर हम स्वयं को नष्ट करते रहते है।

मनुष्य का अहंकार हर काम में आडे आता है। जो मनुष्य अहकारी होता है वह बात-बात मे अपनी महत्ता दर्शाता है। वह "मैने यह काम किया, मै बड़ा बुद्धिमान हूँ" इत्यादि डीगे मारता रहता है। वह यह भी समझता है कि यह सब काम मेरी ही वजह से हो रहे है। उसका न किसी पर विश्वास है न कोई उसके साथ काम करने को ही राजी होता है। साराश यह कि कोई भी मनुष्य अहकारी होना नही चाहता। अहकारी से सब दूर रहना चाहते है। इसलिए अहकार किसी भी काम मे बड़ी बाधा है।

बालक सब को इसलिए प्रिय लगते है कि उनमें अहकार नहीं। उनसे बात करने में प्रसन्नता होती है। वे सहज-सरल है। इसीलिए उनसे सब बात करते है, जिससे एक प्रकार की स्फूर्ति मिलती है।

अहंकार-त्यागी : आत्मशोधन

जो कार्य करने मे कुशल है, उनकी कुशलता का मुख्य कारण यही है कि उनमे अहकार की वृत्ति क्षीण होती है। वे दूसरो को प्रोत्साहन और बढ़ावा देते है। अगर कभी किसी आदमी से कोई गलती हो जाए तो उसे अपने सिर पर लेते है। अगर कभी कोई अच्छा काम हो जाता है तो सारी शाबाशी वे दूसरों को ही देते हैं। इससे दूसरो का दिल बढ़ता है और वे भविष्य मे और अधिक प्रवीणता से काम करते है। वे जिनको शाबाशी देते है वे व्यक्ति हृदय से आभारी हो उनके पूरे सहयोगी हो जाते है। इसी प्रकार अहकार का त्याग लोगों में यशदाता, आत्मशोधक और शान्ति-दाता होता है।

जिस प्रकार एक बल्ब पर काली स्याही लगा देने से उसका

प्रकाश विकसित नही होता उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा दो नही, एक ही है, पर परमात्मप्राप्ति तभी हो सकती है जब मनुष्य का अह मिट जाता है । **अहंकार मिट जाना ही परमात्मा का मिलना है** । जब तक अह है तब तक परमात्मा नही और जहाँ अह नही वहाँ परमात्मा है । अतः हमे स्वार्थ और परमार्थ दोनो मे अह का त्याग करना चाहिये, तभी हम ससार के सच्चे मार्गदर्शक और स्वयं आत्मदर्शी हो सकते है ।



जिमि कुपंथ पग

अज्ञानी बुराइयो से अपने मस्तिष्क को भरता जाता है पर ज्ञानी अच्छाइयो से उसे सजाता है। अज्ञानी विपयो में आनद मनाता है पर ज्ञानी विषयातीत है। वह विपयो के साधनो के न रहने पर भी अपने आनद मे कोई अतर महसूस नही करता। वह हर हालत मे मन से सर्वत्र विरक्त ही रहता है अत: विपयो के भावाभाव ज्ञानी के लिए एक से रहते है पर अज्ञानी मास, शराव, वेश्यागमन, लड़ाई-झगडे, अहभाव, इद्रिय लोलुपता और विपयो में लम्पटपना रखता है। मनुष्य के ज्ञान पर जव पर्दा पड जाता है, तो वह अपने आपको खो बैठता है। वह विपयो के वहाव में वह जाता है। वह विषयो मे आकण्ठ मग्न हो जाता है, और इसी में अपनी सफलता समझता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति नदी के वहाव मे बह जाता है तो उसे पता ही नहीं होता कि मैं कहाँ वहा चला जा रहा हूँ, यही दशा विषयों के वहाव मे वहनेवाले व्यक्ति की होती है।

प्रकृति का दण्ड

एक वार मुझे एक वृद्ध मिला जो विस्तर से उठ भी नही सकता था। उसने कहा कि मैने अपना जौहर अपने हाथो वरवाद

कर दिया। वेश्यागमन, पर-स्त्रीगमन करते-करते तथा ऐसे ही अनेक जघन्य कृत्य करते-करते मेरी आज यह स्थिति हो गयी है कि आज मैं विस्तर से उठ भी नही सकता। प्रकृति ने मुझे मेरे कार्यों का ऐसा कठोर दण्ड इस प्रकार दिया है। आप मुझ अकेले को ही ऐसा न समझो। जवानी में वहुत से नवयुवक ऐसा करते है। किन्तु जव मोती का पानी उतर जाता है तो उसकी कीमत कौडियो की भी नही रहती। कामान्ध मनुष्य विवेकहीन हो, पाप कमा कर, तेजहीन हो जाते है। रामायण में काकभुशुण्डि जी ने गरुड़जी से कहा–

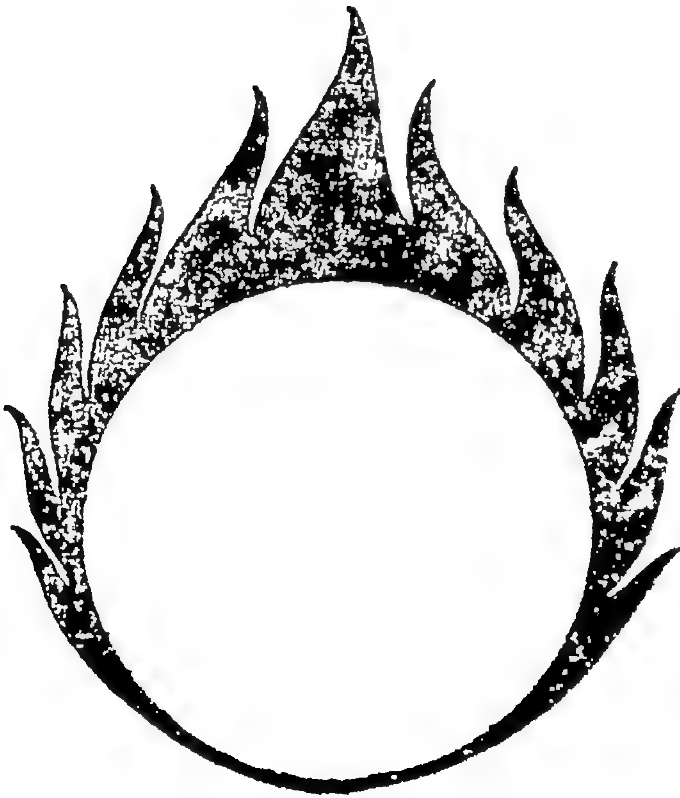
जिमि कुपन्थ पग धरे खगेशा,
रहे न तेज वुद्धि लवलेशा।

हे गरुड़! कुपन्थ में पग रखते ही तेज और वुद्धि का लवलेश भी नही रहता। विपयी विपयानन्द की पूर्ति के लिए वुरे-से-वुरा काम करने को भी तैयार हो जाता है। विघ्न आने पर उसे क्रोध आ जाता है, क्रोध आने पर वह हत्या भी कर डालता है। इससे उसे फाँसी के तख्ते पर भी लटकना पड़ता है।

कसौटी क्या है ?

एक कामान्धता ही क्यों ? कोई भी अविवेक हो–सभी अविवेक घोर अंधकारस्वरूप है, जिनसे वचने का एकमात्र उपाय है प्रकाश की ओर चलना। कोई भी कार्य धर्म और नीति की कसौटी पर कसकर करना। काम और अर्थ का उपभोग भी धर्मानुकूल ही होना चाहिये क्योकि धर्म और कर्तव्य से विमुख होकर करने से तो फिर काम, काम नही रह जाता–वह कामाभास हो जाता है।

ये सारी बुरी बाते विवेकहीनता या मस्तिष्क के अधकार से होती है। इस कारण पहले विवेकशक्ति को विशुद्ध बनाना चाहिये। विवेक के जाग्रत रहने पर कोई बुराई नही रह सकती। यदि बुराई बनती भी है तो प्रारब्धवश बनती है, जिसका कर्तापन विवेक को नही लगता।



अहंकृति की परिच्छिन्नता

अहंकृति की परिच्छिन्नता

ईश्वर की कृपादृष्टि सब पर समान हो रही है। उसी से सबके प्रयत्न सफल हो रहे हैं। परंतु अहभावी पुरुप उसे समझ नही पा रहा है। वह तो अपने अहभाव से ही अपने कार्यो की सिद्धि मानता है। वह उनमे ईश्वरीय सकल्प को नही सोच पाता है। **जिस प्रकार एक माली अपनी अहंकृति की तुष्टि के लिए वर्षा होने पर भी पौधों को जल दे रहा हो ऐसी ही दशा ऐसे लोगों** की है। ऐसे लोग अपनी परिच्छिन्नता के कारण अपने को सबसे निराला--भिन्न समझने लगते हैं।

जिस प्रकार एक गमले मे पौधा अपने को अन्य पौधो से भिन्न माने और समझे कि मेरे गमले की मिट्टी अलग और औरो की मिट्टी अलग है और वह अपने गमले की उस मिट्टी को सब से निराली समझ इतराता रहे उसी प्रकार अपने को और अपनी चीजो को निराला समझनेवाला अपने अस्तित्व के और ससार के सामान्य व्यक्तियों के बीच अहकृति की दीवार खड़ी कर लेता है।

वास्तव मे तो उसके पौधे की मिट्टी अन्य पौधो की मिट्टी

से भिन्न नही। उसका जल, आकाश, वायु और सूर्य का तेज अन्य से भिन्न नही। वह सब के लिए एक है। इसी प्रकार वह मनुष्य भी अन्यों के समान एक मनुष्य ही है। ईश्वरीय संकल्प से ही वह सफल हो रहा है, पर उसने अज्ञानवश देह की अहकृति मे भूल कर अपने लिए एक परिच्छिन्न भावना की दीवार खड़ी कर ली है। वास्तव में मै अलग और तू अलग ऐसा सोचना ही गलत है। **यथार्थ मे देखा जाय तो सभी जीवों के अन्दर एक ही आत्मा है, जिसको अंग्रेजी मे 'युनिवर्सल सोल'** (UNIVERSAL SOUL) कहते है। सभी के शरीर पचभूतो के बने हुए है। सभी के लिये एक ही भूमि और एक ही वायुमण्डल है। उन्ही मे सभी रह रहे है। परस्पर कोई भिन्नता नही। **किंतु मनुष्य की मान्यताएं ही उसे परिच्छिन्न बना देती है।**

वूंद और दायरे

लोनावला स्थित तुलसी साधना कुटीर में एक सुन्दर तालाव है। एक वार मैने देखा कि उसमें वर्षा की वूदे पड़ रही थी। हर एक बूँद अपना–अपना दायरा तालाव के अदर वना रही थी। वे दायरे तालाव के अदर एक-दूसरे से टकरा रहे थे। अव अगर पानी की प्रत्येक वूँद यह भावना वनाए कि "मै और मेरा दायरा" भिन्न है, तो क्या उसका विचार यथार्थ होगा? नही, क्योकि वूद के रूप मे भी वह जल ही थी और दायरे के रूप मे भी वह जल ही है। जव दायरे एक-दूसरे से टकराते है तव भी वह जल ही है। इस कारण स्वरूपतः एक होने के कारण अपने-अपने दायरों की सभी कल्पनाएं मिथ्या है।

इसी प्रकार अहंकार मानव की परिच्छिन्नता बनाता है। अहंकार नहीं तो परिच्छिन्नता भी नहीं होती। यही कारण है कि भक्त और अध्यात्मनिष्ठ व्यक्ति अपने को अकिंचन समझा करते है। अकिंचन भावना ही अभिमान को पास नही फटकने देती।



खण्ड तीन

कामना

● काम, क्रोध, मद, लोभ की खान जब तक मन में है तब तक पण्डित और मूर्ख में क्या भेद ? ●

—गोस्वामी तुलसीदास

भोग का रोग और राग की आग

मानव भोग-विलास की पूर्ति की अग्नि में सदा जलता रहता है। जब पूर्ति नही होती तो बीच में आनेवाली बाधाओं पर क्रोधित हो उठता है। क्रोध से मनुष्य उद्विग्न होता है और चित्त मे विभ्रम उपस्थित हो जाता है। फिर उसे कुछ भी याद नही रहता। वह सदा चिन्तातुर बना रहता है। यह उक्ति प्रसिद्ध है कि '**चिता तो मृतक को जलाती है, किन्तु चिन्ता जीवित को ही सदा जलाती रहती है।**' जैसे एक पर शून्य (०) लगा देने से दस हो जाता है उसी प्रकार चिता के 'चि' के ऊपर बिन्दी लगा देने से चिंता बन जाती है, जो कि चिता से दस गुनी बढ़ी-चढ़ी जलानेवाली होती है।

द्वेषाग्नि की लपट

भोग के कारण ही राग-द्वेष होते हैं। जिसके प्रति राग होगा उसको भोगने की इच्छा भी होगी। उस इच्छा की पूर्ति मे जिससे रुकावट होगी, उसके प्रति द्वेष अवश्य हो जायेगा। वह द्वेषाग्नि की लपट मे जलेगा। यहाँ मनुष्य का अपना ही मन प्रथम दुर्मनी भाव को प्राप्त होकर फिर सामने वाले विघातक पुरुष को दुश्मन करके दिखलाता है। वही मनुष्य दुश्मन के रूप मे प्रतीत होता

है। दुश्मन को मारने, हानि पहुँचाने की वह योजनाएं वनाता रहता है। उसका मन एक ऐसे चक्कर में पड़ जाता है जिससे निकलना मुश्किल हो जाता है, उसे कुछ और दिखायी नही देता। सदसद्विवेक हाथ से छूट जाता है। केवल वासना की ही वह उचित-अनुचित सभी राहों से पूर्ति कर लेना चाहता है। द्वेषाग्नि मनुष्य को समाप्त कर देती है।

कामाग्नि की प्रचंडता

कामाग्नि की प्रचंडता ऐसी है कि यह एक ही जन्म तक नहीं अनेको जन्म तक एक सी रहती है। प्राणियों की देह वदल जाती है पर वे अतृप्त वासनाएँ नही वदलती जिनके पीछे पहले जीवन का अन्त हो गया रहता है। चाहे स्वयम् किसी भी देह में एव चाहे पूर्वजन्म की अमर चाह की वस्तु भी किसी रूप में हो। योगवासिष्ठ में एक कथा आती है कि एक व्यक्ति तीन जन्म तक भी अपनी प्रेयसी को नही भूला था। चन्द्र वश का विधाता पुरूरवा अन्त मे अपनी आहुति देकर भी उर्वशी के पास पहुँचा था।

साधना के द्वारा गुरु इसकी निवृत्ति कराते है। यही कारण है कि राजा भर्तृहरि को गुरु गोरखनाथ ने रानी पिंगला के पास भिक्षा माँगने को भेजा था। रागद्वेष की निरन्तर निवृत्ति और अविचल वैराग्य-विवेक मिल जाय तो व्यक्ति हर स्थिति में मुक्त ही है।

गुरु की कृपा और भगवान की अनुकूलता से विवेकवादी मनुष्य कामाग्नि को शांत कर सकता है, अन्यथा जन्म-जन्मांतरों मे भी यह शांत नही होती।

मोह का डंक

संसार-सागर मे मोह के तूफान मे फसनेवाले मनुष्य को यदा-कदा ही किनारा मिलता है। अन्यथा मोह ससार-सागर में एक भयंकर तूफान-सा है, जिसके अदर जीवनरूपी नैया सदा डांवा-डोल होती रहती है। उसमें विवेकरूपी चप्पू पूरा काम नहीं करता। न धैर्यरूपी पाल ही स्थायी रह पाता है। वह भी मोह के तूफान के थपेड़ों से फट जाता है। इसके प्रवल वेग मे किनारा भी नजर नही आता। संसार मे ऐसी ही परिस्थिति मोहग्रस्त मनुष्य की हो जाती है जिसे कही भी मार्ग नही दीखता। अन्धकार ही अन्धकार सामने दीखता है। **मोह किसी एक व्यक्ति के प्रति उत्कट अन्धतम राग और द्वेष का विवेकहीन जोड़ा है। जहां राग होगा—वहाॅ राग के व्यवधान में द्वेष भी अवश्य होगा।** रागी अपने मार्ग के कटक को मिटाने के लिये भी विवेकहीन हो जायगा। इसी प्रकार राग-द्वेष के चक्कर मे ही मनुष्य की जीवन-रूपी नौका डूब जाती है। सारा जीवन तडपते ही बीतता है। वह संसार-सागर को नही तर पाता।

एक घटना है कि एक माता अपने मकान की छत पर खड़ी

थी। किसी ने उसको आवाज दी कि तुम्हारे वच्चे को साँप ने डस लिया है। वह सुनते ही वही पर वेहोश हो कर गिर पड़ी। थोड़ा-थोड़ा होश आने पर वह वेचारी रोती-चिल्लाती, विलखती अपने आपको घसीटती-घसीटती सीढ़ियों से नीचे उतरने लगी। नीचे आने पर किसी ने उसे वताया कि वह लड़का जिसको साँप डस गया था, उसका नही वरन् उसके पड़ोसी का लड़का था। इतना ज्ञात होना था कि उसका सारा दु:ख-दर्द मिट गया, वह प्रसन्न हो गई।

हम इस घटना की तह में जाये। क्या कारण था कि वह पहले रो रही थी और फिर हसने लगी? साँप ने तो किसी के लड़के को डसा ही था। सॉप के काटने की खवर सुनकर माता जो दुःखी, वेहोश और वेचैन हुई उसका कारण था उसका अपने वच्चे के प्रति मोह, किन्तु नीचे आने पर यह स्पष्ट हो गया कि साँप ने इसके वच्चे को नही किसी और के वच्चे को काटा है, तो उसे जिस कारण दु.ख हो रहा था वह कारण न रह जाने पर उसकी वेदना समाप्त हो गयी और वह हँसने लगी।

डंक गहरा

जिसका लडका मर जाता है वह मनुष्य कहता है कि 'हाय मै मर गया।' वह लड़के के मरने के धर्म को अपने मे मान लेता है। यह सामान्य अनुभव है कि सर्वसाधारण **मनुष्य देह के मरने के धर्म को अपनी आत्मा का धर्म मान लेता है**। इसी कारण वह लड़के के मरने को अपना मरना मानकर वुरी तरह रोता-विलखता है। **मोह का डंक वहुत गहरा होता है**। यहाँ तक कि किसी का पैसा चला जाता है तो वह भी यह कहता हुआ

सुना जाता है कि 'हाय रे मै मर गया।' वह पैसे के साथ इतना जुट जाता है कि पैसे के अभाव में अपना अभाव समझता है। मोहान्ध की आखों पर पट्टी बँधी रहती है। फिर उसे मोह के मारे कुछ भी दिखायी नही देता। वह कोल्हू के बैल की तरह सदा चक्कर काटता रहता है। जीवन वर्बाद कर वही मोह में पड़ा-पड़ा मर जाता है।

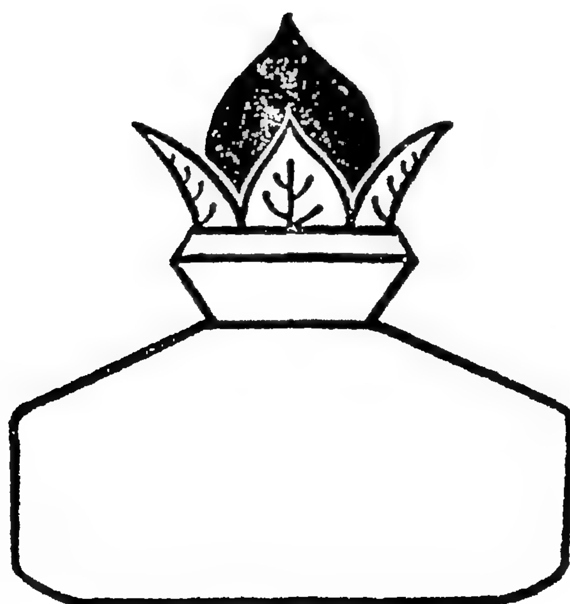


अतृप्त कामनाएं

कामनाओ मे जकडा मानव अपनी आध्यात्मिक प्रगति नही कर सकता। ये कामनाएं उस विषैले सर्प की तरह है जिसके एक वार डसे जाने से मनुष्य फिर उठ नही सकता। विषैले सर्प का जहर तो कभी मत्रों और दवाइयों से उतर भी जाता है किन्तु कामना-तृष्णारूपी सर्पिणी का विष जन्मजन्मातर तक साथ जाता है। यही वंधन का मुख्य कारण है। मानव के मन मे कामनाएं पानी पर तेल की तरह फैलती है। कामना है कमी मे तथा जव कभी भी मनुष्य अपनी कमी का एहसास करता है, तभी कामना उठती है। पुरुष अपने मे कमी का एहसास करता है और सोचता है कि 'यह कमी स्त्री पूर्ण करेगी' और इसी प्रकार स्त्री अपने मे कमी का एहसास करती हुई सोचती है कि 'मेरी इस कमी को मेरा पुरुप पूरा करेगा।' इसी प्रकार एक-दूसरे से अपेक्षा करते-करते उनका सारा जीवन व्यतीत हो जाता है, किंतु कामना की तृप्ति नही होती अपितु वह वढ़ती ही जाती है।

कामना की पूर्ति से तृप्ति की आशा उसी प्रकार की है जिस प्रकार पेट्रोल से आग बुझाने का प्रयत्न। पेट्रोल से आग बुझती

नही, भड़कती ही है। इसी प्रकार कामना की पूर्ति से कामना और भी अधिक वेग से वढ़ती है। इनके मारे मनुष्य विवश हो पराधीन हो जाता है। मस्तिष्क पर अज्ञान का पर्दा-सा छा जाता है। कामनापूर्ति के अतिरिक्त उसे और कुछ संसार में नही दीखता। अतृप्त कामनाएं अन्त में चलकर जन्मजन्मांतरों का कारण वन जाती है। यही कारण है कि विवेकी मन जो कुछ उन्हे किसी प्रकार प्राप्त होता है उसे भगवत् प्रदत्त मान कर भगवान के लिये उपभोग में लाते है। ससार की प्रवृत्तियाँ भी उनकी दृष्टि में भगवान की आज्ञा के अनुसार ही चलती है। वे अपना कर्तृत्व ही समाप्त कर देते हैं। अतः कामनाओं के केन्द्र होने से बच जाते है।



जो देता है, सो पाता है

इंग्लैंड की राजधानी लंदन मे एक धनी ने अपने बैंकर के पास जाकर कहा कि मै आपसे एक बहुत बड़ा कर्ज लेना चाहता हूं। यह कहकर उसने अपनी स्कीम बैंक मैनेजर को सुनायी। मैनेजर ने सुनकर उसे पाच लाख पौड का कर्ज दे दिया। इस धनी मनुष्य ने आकर ऐसी एक बेकरी खरीद ली जो कि बिलकुल बंद पड़ी हुई थी और जिसका काम ठप्प था। इस डबल रोटी बनाने के कारखाने में पहले दिन तो इसने डबल रोटियों के अन्दर सैकड़ो गिन्निया और हजारो पांच और ढाई सिलिग के सिक्के डाल दिये। डबल रोटी का पत्रों द्वारा खूब विज्ञापन किया। विज्ञापन के परिणाम-स्वरूप उन डबल रोटियो कि माग बहुत हुई और जब लोगों ने घर मे ले जाकर वे डबल रोटिया काटी तो किसी में सोने की गिन्नी तो किसी में १० शिलिग और किसी में पांच शिलिग के सिक्के उनके हाथ लगे। ये डबल रोटियां ६ पेनी मे बेची जा रही थी। रोटियो को खरीदकर लोग बड़े प्रसन्न हुए।

यह चर्चा देश भर मे फैल गयी। दूसरे दिन कुछ कम और तीसरे दिन उससे कम सिक्के डालकर वह डबल रोटियाँ बेचता

रहा। उसकी डबल रोटी प्रख्यात हो गयी। उस बंद बेकरी का अपनी बुद्धि द्वारा उसने संचालन कर उसे फायदेमंद वना लिया। धीरे-धीरे उन डबल रोटियों की विक्री भी इतनी वढी कि वह मालामाल हो गया।

देना निरर्थक नहीं

इस प्रकार जो लोग देना जानते है, वे लोग फायदे में ही रहते। देना कभी निरर्थक नहीं जाता। देना कई गुना वनकर वापस लौटता है। देने में संकोच करनेवाला व्यक्ति घाटे में ही रहता है। **जो देता है वही पाता है।** इसके साथ हमे यह भी शिक्षा मिलती है कि विवेकशील लोग अपने विवेक द्वारा प्रतिकूल परि-स्थितियो को भी अपने अनुकूल वना लेते है। **विवेक ही मानव का सच्चा साथी है।** जो इसका उपयोग करना जानता है वह सदा विजयी रहता है। अत. विवेकपूर्वक देना भी उससे अनन्त गुने पाने का ही मार्ग है।



असंतोष का जन्म

एक अमीर घराने की स्त्री ने नई डिजाइन की सोने की चूड़ियां वनवायी। वह उन्हें पहनकर अपनी गरीव सहेली के घर उसे वताने के लिए चली गयी। वहां उसने अपनी चूड़ियों की वहुत प्रशसा की। कहा कि यह विलकुल नयी डिजाइन की चूड़ियां हैं। इस तरह की चूड़िया अव तक किसी ने नही वनवायी है। यह सव कहते हुए वह फूली नही समाती थी। दूसरी स्त्री ने कहा कि वहन, इन चूड़ियो का आजकल कहा जमाना है? आजकल की पढी-लिखी स्त्रियां तो घड़ी पहनती है, जो शोभा का कारण भी है और समय-समय पर समय भी वताती है। यह देख मेरी घड़ी कितनी अच्छी है।

इतना सुनते ही आगतुक स्त्री के पांव के तले से मिट्टी खिसक गयी। उसे अपनी चूड़ियों मे घड़ी का अभाव खटकने लगा। वह वेचैन हो गयी।

यहा सोचने की वात यह है कि उसको वेचैन किसने किया? असतोप ने या अभाव ने? जव तक उसने अपनी चूड़ियो में सतोप माना तो वह अत्यन्त प्रसन्न थी पर जव उसकी चूड़ियों में

घड़ी का अभाव खटका तो असंतोष ने जन्म लिया और चित्त में एक विषमता खड़ी हो गयी ।

इसी प्रकार हमारा मकान चाहे कितना भी सुन्दर हो और आधुनिक सुविधाएं उसमें हों किन्तु कोई पड़ोसी इससे भी ज्यादा नये फैशन का मकान बना ले तो अपने यहाँ सब कुछ रहते हुए भी हम उसके मकान को बढ़ा-चढ़ा मानते हुए मन मे विक्षेप लाना शुरू कर देते है। यहां तक कि हमारे भाव बिखर जाते है एवं अभाव हमें खटकने लग जाते है। संतोष चला जाता है।

संतोष परम धन

जब हम अपने कामों को और विचारों को विवेक की कसौटी पर परखते है तो हमें प्रतीत होता है कि यही हमारा अज्ञान है, यही हमारी भूल है। **भगवान ने जो जीवन के साधन अपने को दिये है उन्हीं में हमें संतुष्ट होना चाहिये। किसी को किसी से क्षुद्र प्रतिस्पर्धा नहीं करनी चाहिये**। यही असतोप का कारण बनती है और **असंतोष भयंकर विक्षेप का कारण होता है।** भगवान मालिक है। वे जैसे रखे हमे वैसे ही रहना चाहिये। किसी को देखकर ललचाना नही चाहिये।

卐 卐 卐

मानव-हृदय : रीते का रीता

वढ़ती हुई चाह

मनुष्य का हृदय ऐसा बना हुआ है कि उसमे दुनिया भर के पदार्थ भी डाल दिये जायं तो भी वह नहीं भरेगा। जितने पदार्थ वढते है उतनी ही चाह भी हृदय मे वढ़ती चली जाती है। जितने भोग वढ़ते है, उतनी ही भोग की वासना भी वढ़ जाती है।

रहस्यमय कांसा

एक राजा के यहां लंगर लगा हुआ था। लगर को बंटवाने के लिए राजा खुद खड़ा था। कतार मे लंगर पाने के लिए एक साधु भी आया और उसने अपना कांसा आगे कर दिया। राजा ने सभी प्रकार के खाद्य पदार्थ उसमे डाले, किन्तु साधु का कांसा भरा नही। राजा को वड़ा आश्चर्य हुआ। यह साधु कोई जादूगर तो नही? राजा ने उस कासे के अदर भांति-भांति के रत्नाभूपण लाकर उसे भरने की कोशिश की। किन्तु राजा का यह प्रयत्न भी निष्फल गया। अन्त में राजा ने अपना ताज भी साधु के कासे मे डाल दिया। तव भी साधु का कांसा नही भरा।

राजा ने वड़े विनय भाव से उस फकीर से कांसा न भरने का

रहस्य पूछा। साधु ने वताया कि यह कांसा मनुष्य के हृदय का बना हुआ है। इसमें कुछ भी कितना ही डालते रहो पर यह कभी भरता नहीं। स्त्री, पुरुष, धन-सम्पत्ति, वैभव सभी इसमें समा जाते हैं। फिर भी यह रीता का रीता ही रहता है।

संसार के जितने भी पदार्थ है सब क्षणिक है, नाशवान है, सर्वथा एवं सदा ही अपूर्ण रहते है। **पदार्थों की अपूर्णता इस कांसारूपी हृदय को पूर्णतया कभी नहीं भर सकती। इसको भरने का एक-मात्र उपाय है, वह है पूर्णानन्द की प्राप्ति।** मनुष्य का निजानन्द--नित्यानंद--पूर्णानंद जव उस हृदय में पड़ेगा तभी वह पूर्णता का अनुभव करेगा।



छाया और माया

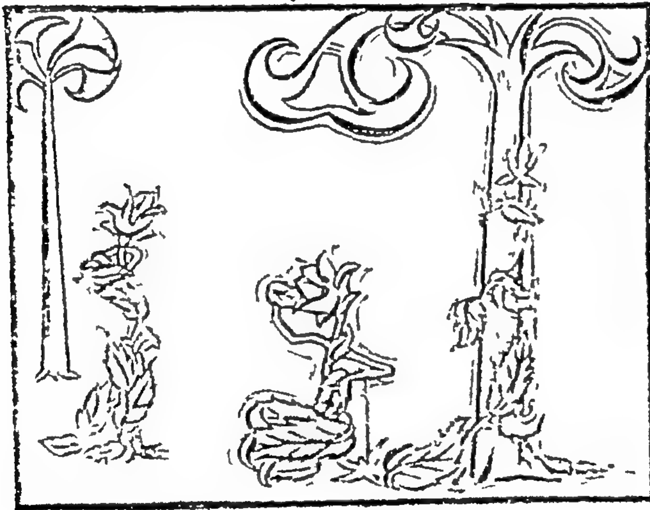
एक छोटे से वच्चे ने एक दिन सूर्य के प्रकाश में खेलते हुए अपनी छाया देखी। वह अज्ञानी वालक उस छाया का सिर पकड़ने की कोशिश करने लगा; किन्तु जैसे-जैसे वह आगे वढ़ता, वह छाया दूर होती चली जाती। यही हालत हम मनुष्य की है। हम माया के पीछे दौड़ रहे हैं किन्तु वह हमारी पकड़ मे नहीं आती। आगे-आगे ही भागी चली जाती है।

महापुरुष से भेंट

पिता के जीते जी उसके पुत्र की मृत्यु हो जाती है। स्त्री चली जाती है। धन चला जाता है। यहाँ तक कि वह जितना भी उनके पीछे भागता है, उतना ही सव कुछ उससे छूटता जाता है। आखिरकार उसकी अवस्था ऐसी हो जाती है कि वह थककर हताश होकर रोने वैठ जाता है। विरला ही महापुरुष ऐसा मिलता है जो वालक को यह वतला देता है कि अपना हाथ सिर पर रखने से अपनी छाया के सिर पर हाथ रखा जा सकता है और इस प्रकार वह उसे धीरे-धीरे आत्मानंद का अनुभव करवा देता है।

यदि ऐसा हो तो संसार के सारे क्लेश मिट जायें। वह वालक

वालक न रहकर विश्व का भूषण वन जाये। पर ऐसा होता नही। **हम बालकों को अध्यात्म न देकर संसार** देते है। यह भी नही करते कि ज्ञानपूर्वक ससार संभलवायें। प्राचीन काल मे ऐसा होता था कि मां-वाप बालकों को जगत, जीव और जगदीश्वर तीनों का मर्म बताया करते थे। आज भी आवश्यकता है कि हम अपने बालकों को जगत, जीव और ईश्वर का मर्म समझाकर सुयोग्य वनाएँ। वे छाया सरीखी माया के मोह से वच जाये।



विषय-सुख : मृगतृष्णा

मरु-मरीचिका (रेत में पड़ी सूर्य की किरणों के कारण दीखने-वाला असत्य जल) से प्यास नही बुझाई जा सकती क्योंकि वह पानी नही किंतु दूर से दीखनेवाला पानी का आभास मात्र है। इसी प्रकार विषयो से सुख-शांति की प्राप्ति नहीं की जा सकती, क्योकि विपयों में सुख का आभास मात्र ही है—वास्तव में सुख-शांति नहीं।

नि शेष जीवन-ज्योति

मरुभूमि में वालू के कण सूर्य के ताप से उत्तप्त हो कर हवा को भी गर्म कर देते हैं। तभी तो गरम हवा हल्की होने के कारण वायुमंडल में ऊपर को उठती है, ऊपर की वजनदार हवा नीचे की ओर आती और जाती है। गरम हवा का ऊपर जाना और शीतल हवा का नीचे आना वालू के अन्दर लहरें-सी पैदा कर देता है, जिससे दूर से वहते हुए पानी की लहरों की भ्रांति उत्पन्न हो जाती है। जो अनजान व्यक्ति होते है वे अपनी प्यास वुझाने के लिए लोटा लेकर निकल पड़ते है, किंतु दूर से दूर जाने पर भी कही उन्हे जल की एक भी वूद प्राप्त नहीं होती। वे हताश हो नितान्त थककर वहीं गिर पड़ते है। वालू के कण में कभी न तो जल था,

न ही है, और न होगा ही। किंतु इसकी भ्रांति वहुतों के प्राण-हरण का कारण अवश्य बन चुकी है। तभी तो मृगों के झुंड-के-झुंड प्यास लगने पर मृग-जल की ओर भाग जाते है। वे भागते-भागते अपनी शक्ति का ह्रास कर, अपने आपको वही समाप्त कर देते हैं। वे प्यासे ही मरते है। उनकी प्यास नही बुझती। हा, उनकी जीवन-ज्योति अवश्य बुझ जाती है।

सुख की खोज मे

यही हालत संसार मे इद्रिय भोग से सुख की आशा रखनेवालों की भी है। वे भी सुख की खोज में विषयों में भटकते है। कभी सोचते है कि स्त्री मिल जायगी तो मै सुखी हो जाऊगा। कभी सोचते है कि धन मिल जायगा तो मै सुखी हो जाऊंगा। स्त्री और धन दोनों मिल जाने पर सतान की आशा वन जाती है। वह सोचता है कि संतान हो जाने पर मै सुखी हो जाऊंगा; किंतु **सदा आशा मे निराशा ही रहती है। आज तक विषयों मे न किसी को पूर्ण सुख मिला है और न मिलेगा ही। विषयों मे सुख प्राप्ति की भ्रांति मनुष्य को विषयों मे भटका अवश्य रही है,** जिससे उसका जीवन-लक्ष्य अटक जाता है। जो विषय जितना सुखादायी प्रतीत होता है वह आगे चल कर उतना ही दु:खदायी सिद्ध होता है। इतना ही नही, अनन्त काल तक दु.ख का कारण भी वना रहता है।

वस्तुत: विषयो मे नही वल्कि सुख तो वास्तव में मन की शान्ति से वंधा हुआ है। विषय-सुख तो मृगतृष्णा के समान भटकाने वाले है।

卐 卐 卐

मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की

सांसारिक अग्नि से बच निकलने का एकमात्र उपाय है—'आत्मा की तीव्र जिज्ञासा।' जब तक मनुष्य मे तीव्र जिज्ञासा नहीं होगी वह संसाररूपी अग्नि से बच नही सकता। भोग-वासना मे पड़े हुए मनुष्य कामाग्नि को भोग के द्वारा शान्त करना चाहते हैं। किन्तु वह कामाग्नि भोगों के भोगने से और भी अधिक प्रज्वलित हो जाती है और कभी शान्त नहीं होती। यदि जलती हुई आग मे लकड़ियों के डालने से आग बुझ सकती तो भोगों के भोगने से भोगेच्छाए शात होने की संभावना की कल्पना की जा सकती है। भोगेच्छाओ की पूर्ति से वे बढ़ती ही हैं कम नहीं होती, साथ ही शरीर भी निस्तेज हो जाता है। भगवान कृष्ण का भी यही सिद्धान्त है। सभी दार्शनिक भी ऐसा ही मानते हैं। किसी कवि ने भी ठीक ही कहा है कि—

विसाले यार से दूना बढ़ा रश्क,
मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की ॥

कहीं अन्त नहीं

संसार मे सब जगह दुःख ही दुःख है। अपमान का दुःख, भोगविलास की तृप्ति न मिलने का दुःख, पदार्थों के अभाव का

दु:ख, अपने व्यक्तित्व की कमी का दु:ख। इनके सिवा और भी कई प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक दु:ख है जो कि मनुष्य को सदा घेरे रहते है। भोग में रोग छिपा हुआ है। हम ज्यों-ज्यों भोगो के भोगने मे मस्त होते है, त्यो-त्यों रोग से ग्रस्त होते चले जाते है। **मनुष्य के पास जितना ही पैसा** आता है वह **उतना ही लालची होता चला जाता है**। हमने करोड़पतियों को चार आने पैसे के लिए स्टेशन पर कुलियों के साथ गाली-गलौज करते देखा है। उनके हृदय मे उदारता, प्रियता, प्रसन्नता रहती ही नहीं है। सदा लोभ का ही साम्राज्य वना रहता है। लोभाग्नि कभी शान्त नही होती, किन्तु **ज्योंही मानव के हृदय में आत्म-प्राप्ति की जिज्ञासा का उदय हो जाता है, वह संसाराग्नि मे दग्ध करनेवाले पदार्थो का स्वतः ही त्याग कर देता है।**

जिस मनुष्य को धन और भोगो का लोभ आत्म-विमुख करता है उसे तीव्र जिज्ञासा ही सद्‌मार्ग से लगा सकती है।

तीव्र जिज्ञासा

तीव्र जिज्ञासा के साथ-साथ आत्म-अनात्म का विवेक बढ़ता जाता है, जो कि अनात्म पदार्थो के प्रति लिप्सा को क्रमशः मन से बाहर करता जाता है। उस समय तीव्र जिज्ञासा के साधन वैराग्य आदि ही मन मे रह जाते है। मानव के उद्धार के साधन अभ्यास और वैराग्य मुख्य है। यदि वैराग्य हो जाये तो अभ्यास की भी विशेष आवश्यकता नही रहती। वैराग्य मन को आप निर्विषय वना देता है।

卐 卐 卐

खण्ड चार

कालचक्र

● जैसे प्रवाह के वेग में एक स्थान की बालू अलग-अलग बह जाती है और दूर दूर से आ कर एक जगह एकत्र हो जाती है, ऐसे ही काल के द्वारा सब प्राणियों का भी वियोग और कभी संयोग होता है। ●

—देवर्षि नारद

अखंड काल

काल स्वतः ही स्वरूप से अखड है, एक है। उसमें किसी प्रकार का विभाग नही। **काल का विभाजन कल्पित है। वह मनुष्य का अपना ही बनाया** हुआ है। मनुष्य ही अपने काम के लिए निमेष से लेकर सृष्टि के निर्माण के समय तक पहुचता है। अन्त की भी सीमा बांधता है। **जीव–आत्मा मे जो द्रष्टापन है, वह कालातीत एवं काल से भी परे है।** जिस प्रकार लकड़ी को गोल काट कर बाहर खाचे कर दिए जाये और वह खाचा धीरे-धीरे घुमाया जाये तो द्रष्टा को काल वही रहते हुए भी चक्कर मे खाचो के विभाजन के कारण काल मे विभाजन प्रतीत होता है। द्रष्टा मे न काल है और न काल का विभाजन है, पर ससार मे सभी प्रकार के विभाजन माने जाते है। ये सभी विभाजन भूमि की परिच्छिन्नता, कालकृत परिच्छिन्नता और वस्तु की परिच्छिन्नता पर निर्भर है। सभी देश, काल और वस्तु के विभाजन को लेकर विभक्त होते है। इस भेद को जो इससे विभक्त है उनके लिये एक तरफ छोड दिया जाय तो द्रष्टा मे कोई विभाजन नहीं रह जाता है, वह ज्यों का त्यो रहता है। हर देश, हर काल, हर परिस्थिति मे वैसे का वैसा ही है। परिवर्तन दृश्य मे है, द्रष्टा मे नही। जो दिख-

लाई देता है वह देखता नहीं और जो देखता है वह दिखता नहीं। यह वेदान्त का अटल सिद्धान्त है। वैज्ञानिक युक्ति से भी यह वात सिद्ध है कि दृश्य ही चक्कर काट रहा है, द्रष्टा नही। द्रष्टा अपने अस्तित्व को अपने आपे के रूप मे अपने आप से आप ही देख रहा है।

काल की चाल

काल की चाल अडिग होती है। तभी तो लोग कहा करते है कि "**काल और ज्वार-भाटा किसी के रोके नहीं रुकते।**" असंख्य प्राणी काल के गाल मे गये और चले जा रहे है। समुद्र मे जिस प्रकार ज्वार-भाटा आता है, ऐसे ही मनुष्य के जीवन मे क्रमशः जन्म-मृत्यु के समय आते है। **मनुष्य का जो जन्म है वह मृत्यु का ही प्रमाण है। जो जन्मेगा वही एक दिन विनाश को भी प्राप्त होगा।** पर आतमा जो अविनाशी है उसका मृत्यु भी कुछ नही विगाड़ सकती। मृत्यु के वाद भगवान जीर्ण-शीर्ण काया के वदले नयी काया देते है (जीर्णानि-शीर्णानि यथा विहाय—गीता)। वृद्धावस्था मे जव काया एकदम रोगग्रस्त, जीर्ण-शीर्ण तथा अस्वस्थ हो जाती है तो भगवान पुरानी पोशाक की तरह जीर्ण-शीर्ण देह को वदलकर नये जन्म के रूप मे नयी पोशाक की तरह नया शरीर दे देते है। किन्तु जीव उनकी दयालुता को कोसता है। अगर कहीं सव वृद्ध, रोगी, अस्वस्थ और जीर्ण-शीर्ण लोग मरें नही, अमर वने पड़े ही रहे तो संसार मे तिल-भर जगह न रहे। लोग दुःख के मारे व्याकुल हो जायें। **मरना भी जीव के कल्याण के लिए ही है,** क्योकि इसके वाद देही को नूतन देह मिल जाती है। **वास्तव में मृत्यु तो उसकी होती है जो देह से आसक्ति**

रखता है। सारा दिन उसे सजाना, खिलाना-पिलाना, सुंदर समझना इत्यादि मनुष्य के अन्दर देह-भाव उत्पन्न करते हैं। जिसकी देह में अपनपे की वृद्धि होगी मृत्यु भी उसी की होगी, पर जिसने अपने आपको देह से परे अजर-अमर आत्मा जान लिया है उसकी कभी भी मृत्यु नहीं होती :

आशिक जो तेरे नाम के
वे कभी नहीं मरते हैं।

देह और देही

आत्मा तो इस जन्म के पहले भी थी और मनुष्य के मरने के बाद भी रहती ही है। वह कभी मरती नही, सदा अजर-अमर रहती है। इस कारण **जिसने अपने आपको आत्मा करके जाना है, उसकी कभी मृत्यु नहीं होगी। क्योंकि वह अपने को देह से भिन्न समझता है।** देह मे देही तो अविनाशी है, अजर है, अमर है पर देह विनाशी है, जरा-मरण को प्राप्त होनेवाली है। इस कारण जिन लोगों ने कभी सत्संग नही किया उनको आत्मा-परमात्मा की वात भाती नही, वे तो देह को ही सव कुछ मानते हैं। उनकी सदा संशयात्मक वृत्ति वनी रहती है। वे और किसी तत्त्व को सत्य माने या न माने किन्तु मृत्यु तो उन्हे प्रत्यक्ष एवं साक्षात् सत्य भासती है। इससे कभी-कभी उनके अन्दर भी विचार उठता है कि कोई ऐसी शक्ति अवश्य है जो कि इस संसार का नियंत्रण कर रही है। चाहे उसे जिस नाम से पुकारा जाये, वह तो सर्वत्र एक है।

नाम और नामी

भिन्न-भिन्न नामों के होने के कारण भी नामी कभी भिन्न नहीं होता। वह सवका एक ही वाच्य रहता है। मृत्यु के भय से भी

ससारी लोगो के अन्दर प्रायः पाप करने की वृत्ति कम हो जाना संभव है, किन्तु उनकी समझ में सिर पर नाचती हुई मृत्यु आ जानी चाहिये। तभी तो उपनिषदो ने मृत्यु के भय को भी संसारियो के सामने रखा है। **संसारियों मे एक बड़ा दोष यह है कि उन्हे आगे-पीछे संसार ही सत्य भासता है।** किन्तु जब कभी घर का कोई मर जाता है, तो 'राम नाम सत्य है'—यह कुछ काल के लिए सत्य प्रतीत होता है। जब संसारी किसी की शवयात्रा के साथ जाते है तो कुछ काल के लिए उनके अन्दर क्षणिक वैराग्य भी उत्पन्न हो जाता है, जिसे श्मशान वैराग्य कहते है क्योंकि यह श्मशान मे ही मनुष्य के मन मे उत्पन्न होता और फिर नही रहता। शवयात्रा मे चलनेवाले वैराग्य की ही चर्चा करते चलते है, कि ससार में कुछ नही है, जीवन-मरण प्रभु के हाथ है, मनुष्य का शरीर जन्मने-मरनेवाला है, जीवात्मा अमर है इत्यादि। किन्तु श्मशान से मुह फेरते ही और घरो की हवा लगते ही उनकी वे भावनाएँ बदल जाती हैं। फिर वे वही कौतुक करने लग जाते है जो वे पहले करते थे।

भूतजीवी

शव को जब अन्त्येष्टि के लिए ले जाते है, तो उसके पांव आगे और सिर पीछे को करते है। इसका अर्थ यह होता है कि जीवित मनुष्य देखता आगे है और सामने चलता हुआ भी आत्मा से पीछे की सोचता है। गत काल की सोचता है। इसी कारण वह गत या मृतक है। इस तरह **जो मनुष्य भविष्य की न सोचकर भूतकाल की ही सोचते रहते है वे जीवित रहते हुए भी मृतक की ही तरह जीते है।**

श्मशान से लौटते समय रिश्ते-नाते एवं सगे-सबधी बैठकर तिनका तोड़ते है। साथ मे यह भी कहते है कि 'तिनका टूटा रिश्ता छूटा'। ये संबधी सभी देह के संबंध से है। जो देह को 'मै' मानता है, वह संबधियो को भी 'अपना' मानता है, पर जो देह को 'मै' नही मानता वह देह के सबधियो को भी 'अपना' नही मानता। वह अपने आपको सब से जुदा समझता है। पर यह बुद्धि तो भगवान के कुछ ही प्यारो को प्राप्त होती है। जिन्हे प्राप्त हो गई उनका यही कल्याण हो जाता है। वास्तव मे ससारासक्त मरते है। भगवान के नाम के आशिक तो सदा अमर है। उनका आत्मिक सम्बध भगवान से है, देह से नही है। उनका काल कभी खडित नही होता, वे कभी कालछिन्न नही होते। काल-शेप उनके निमित्त है जो देहमात्र की कालावधि की सज्ञाभर रखते है।



कालचक्र

कालचक्र पचभौतिक शरीर को रूपान्तरित करता रहता है। जन्म के समय नवजात शिशु का शरीर अतीव नाजुक, कोमल, छोटा और भार मे दो-चार सेर से अधिक वजनदार नही होता। धीरे-धीरे वह ऐसा भारी हो जाता है कि गोद में उठाना भी भारी लगता है। वाद में वह स्वयं चलने-फिरने लगता है।

फिर वह युवक होकर लम्वा-चौड़ा दो मन भार का हो जाता है। पर यह मस्ती की अवस्था भी सदा नही रह पाती। काल इसे भी वदलने लग जाता है और परिवर्तित करते-करते एक लकड़ी के सहारे चलनेवाले जीर्ण-शीर्ण वृद्ध के रूप में वदल देता है। एक दिन फिर उसे हिलना-चलना भी कठिन हो जाता है। काल स्वय काल होकर कवलित कर लेता है। वाल्य, यौवन और वार्धक्य समय पर एवं काल के प्रताप से ही प्राप्त होते हैं। ये अवस्थाएं अपने कुछ विशिष्ट गुण लेकर वारी-वारी से आती हैं और अपना समय पूरा हो जाने पर चली भी जाती है।

युवावस्था

वाल्यावस्था मे मनुष्य विवेकहीन रहता है। इसमें प्रायः अपरिपक्वता, विवेकहीनता, नासमझी और मूर्खता इत्यादि विकार

रहते है। बालक मे शक्ति भी वहुत सीमित रहती है। वालक की जव इच्छा पूरी नही होती है तो वह क्लेश करता और रोता-पीटता है। वालक अपने अनजानपन के कारण भयभीत रहता है। कोई काम ठीक न हो तो बड़ों द्वारा जरा भी आंख दिखाने मात्र से डर भी जाता है। वह यही सोचता रहता है कि वड़े-बूढे तो ऐश करते है। उन्हें स्वतत्रता प्राप्त है पर मै ही क्यों पराधीन हूँ। मै भी जब वड़ा हो जाऊगा तो खूव अच्छे-अच्छे कपड़े पहनूगा। जो चाहूंगा वह करूगा, जिसके लिए मै वाल्यावस्था में पराधीन हूँ।

वही वालक युवावस्था मे प्रवेश करता है तो अपनी पूर्व सचित इच्छाओ को पूर्ण करना चाहता है। वह सोचता है कि मुझे सुदर स्त्री मिले, मै धनवान हो जाऊँ, मेरे पास सभी प्रकार के वैभव आ जाये। मै पूर्ण रूप से सुख भोग सकू। किंतु जव वह सुख भोगते-भोगते शक्ति का ह्रास कर वैठता है तो फिर वृद्धावस्था मे पाँव रखता है।

जरावस्था

जिन लोगों ने जवानी में आध्यात्मिक उन्नति का कोई साधन नहीं किया उनसे वृद्धावस्था में भी कोई साधन नहीं होता, क्योकि वृद्धावस्था में तो इच्छाए और भी वेग पकड़ लेती है। जैसे-जैसे इद्रियां व शरीर शिथिल पडते जाते है, वैसे-वैसे भोगेच्छाए और अधिक वढ़ती जाती है। अच्छा खाने की इच्छा होती है किन्तु दाँत साथ नही देते। खाया भी नही जाता, न हाजमा ही साथ दे पाता है। सिनेमा-नाटक आदि देखने की भी इच्छा होती है, किन्तु आँखें काम नही देती। वृद्धावस्था को जरावस्था भी कहते है। इसमें देखना-सुनना-खाना इत्यादि सभी जरा-जरा अर्थात्

थोड़ा-थोड़ा रह जाता है। शरीर भी जर्जरित होता जाता है।

वाल-वच्चे पाल-पोसकर वड़ा किया था। वे भी अव अपना पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेने के कारण उस वृद्ध मनुष्य की वात को नही सुनना चाहते। उस वेचारे की टूटी हुई खटिया घर के किसी एक कोने मे पड़ी रहती है जहाँ वह खांसता, थूकता हुआ, धीरे-धीरे घरवालो के लिए वोझ और ग्लानि का विषय वन जाता है। छोटे-छोटे वच्चे उसकी हँसी उड़ाकर उसका निरादर करते है। पानी के लिए भी उसे प्रतीक्षा करनी पड़ती है। भोजन भी कभी समय पर मिलता है तो कभी समय पर नसीव नही होता। घर में वह 'मिसफिट' होकर पड़ा रहता है। इस दशा में भी शांति नही मिल पाती क्योकि वह अंदर-ही-अदर जलता रहता है कि हाय, मैंने कुटुम्व, परिवार के लिए जवानी में दिन-रात एक कर के, अपने स्वास्थ्य का भी खयाल न किया, परिश्रम करके इस घर को वैभवशाली वनाया, किन्तु आज वही परिवार मेरी दुर्गति कर रहा है।

उसे न तो कोई भजन सूझता है न सत्सग अच्छा लगता है, उससे न वैठा जाता है और न चला ही जाता है। हाँ, यह वात अवश्य होती है कि वह विस्तर के साथ एकता स्थापित कर लेता है।

किसी महात्मा से सुना है कि एक घर मे कोई वूढ़ा रहता था। घरवालो ने उसके विस्तर के साथ विजली की घण्टी का स्विच लगा रखा था जिससे कि वह आवश्यकता पर किसी को वुला ले। किन्तु एक वार स्विच में खरावी हो जाने के कारण घण्टी वजनी वद हो गई। वह वेचारा पानी के लिए घण्टी वजाता-वजाता ही मर गया, किन्तु उसे पानी नसीव नही हुआ। वृद्धावस्था की

ऐसी बहुत सी समस्याएं हल हो सकती है यदि जवानी में ही वृद्धावस्था की योजना बना ली जाय; क्योंकि रिटायर होना भी एक कला है।

वृद्धावस्था : आत्मोन्नति का साधन

यदि पहले से ही वृद्धावस्था की ठीक व्यवस्था कर ली जाय तो वृद्धावस्था इतनी दु:खदायी नही रहती वल्कि आत्म-प्राप्ति का साधन बन सकती है। **जिन्होंने जवानी में अध्यात्मोन्नति की ओर प्रगति की है, जिन्होंने इंद्रियों को साधा है, उनके लिए यह वृद्धावस्था और भी तेजस्वी हो जाती है।** उनका शेष जीवन प्रसन्नता के साथ व्यतीत हो जाता है।

क्षण-शेष : मरण

मृत्यु को तो एक-न-एक दिन आना ही है। मनुष्य तो परिमित श्वास लेकर इस जगत में आता है। मोटर मे जितना पेट्रोल होता है, उतना समाप्त होने पर वह खडी हो जाती है। घडी मे जितनी चाभी होती है वह उतनी ही चल सकती है। मनुष्य की आयु प्रारब्ध के अधीन है। जितने श्वास लेकर आया है, उतने ही श्वास लेकर अवश्य मरेगा। उससे पहले उसे कोई नही मार सकता। जाग्रत के वाद स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था आती है। इसी प्रकार जीवन की अंतिम अवस्था मृत्यु है। अत: मृत्यु से भी डरने की आवश्यकता नही। **कृतकृत्य लोग मौत का भी प्यारे अतिथि के समान स्वागत किया करते है। वे इसे भी प्रिय-प्राप्ति का निमित्त समझते हैं।** उनका विश्वास है कि **संसार केवल कालक्षेप करने मात्र का साधन है।** मुख्य जीवन तो ब्रह्मप्राप्ति ही है।

卐 卐 卐

काल की चेतावनियां

मृत्यु जीवित मनुष्य को उसके जीवन में ललकारती हुई बार-बार चेतावनी देती है कि मैं सिर पर खड़ी हूँ। मेरी तलवार तुम्हारे ऊपर ही लटक रही है। किन्तु मनुष्य उसकी बार-बार की चेतावनी पर भी ध्यान नही देता। चालीस-बयालीस बरस की आयु होते ही आँखे कमजोर होने लगती है, शक्ति के ह्रास का अनुभव होने लगता है। तब मनुष्य चश्मा लगा लेता है, श्रम कम करने लग जाता है। यह पहली चेतावनी है कि हे मानव, तू साधारण आँख से तो नही देख पाता, लेकिन अब चश्मा लगाकर ही अपने आपको पहचान ले। किन्तु मनुष्य उसी भागदौड़ में लगा रहता है। मौत की चेतावनी का उस पर कुछ असर नही होता।

चेतावनी

फिर आगे चलकर पचास-पचपन की आयु होती है तो वह कान से जरा-जरा सुनता है। **कान के पास जो बाल होते है वे पहले सफेद होते है मानो वे कान के पास से यह चेतावनी दे रहे हों कि अब तेरे बाल भी सफेद होने शुरू हो गए।** अब भी जरा चेत और समझ कि किस ओर खिंचा जा रहा है।

एडवांस बुकिंग

फिर आगे जब और आयु बढ़ती है तो सिर के बाल झड़ने शुरू हो जाते है। **जैसे किसी मुसाफिर को लम्बी मुसाफिरी में जाना होता है तो उसकी एडवांस बुकिंग होती है। इसी प्रकार ये बाल झड़कर कहते हैं कि हम तेरे लिए एडवान्स बुकिंग करने जा रहे है।** अर्थात् जहाँ कि तुझे जाना है और जिस प्रकार हम जा रहे है, एक दिन तुझे भी हमारे गन्तव्य को ही जाना पड़ेगा। अंत मे एक दिन ऐसा भी आ ही जाता है जब कि मनुष्य सब कुछ धरा-धराया छोड़कर इस ससार से कूच कर जाता है। **मनुष्य ने समय रहते हुए चेतावनी नहीं सुनी जिसके फलस्वरूप जीवन का लक्ष्य अप्राप्त ही रह गया।**

इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य जैसा आत्मज्ञान से कोरा और पाप-पुण्यों से भरा आता है वैसा ही कल्याण के मार्ग से विहीन, अज्ञान से परिपूर्ण पाप-पुण्य के बोझ से लदा हुआ चला जाता है। वह मानव जीवन को कुछ भी सार्थक नही कर पाता।

इस कारण मानव को काल की प्रत्येक चेतावनी पर ध्यान देना चाहिये और सोचना चाहिये कि जो उसका अमर साथी है उसे पकड़े, जिसको साथ रखने से कल्याण हो— जिसको पाने पर फिर किसी को पाने की इच्छा न हो। जिन्होने इस चेतावनी पर ध्यान दिया है उनका कल्याण हो गया है। जीवन में स्वत: दैवी प्रेरणा से आनेवाली चेतावनियो पर विचार करना चाहिये।

卐 卐 卐

भावी यात्रा का पाथेय

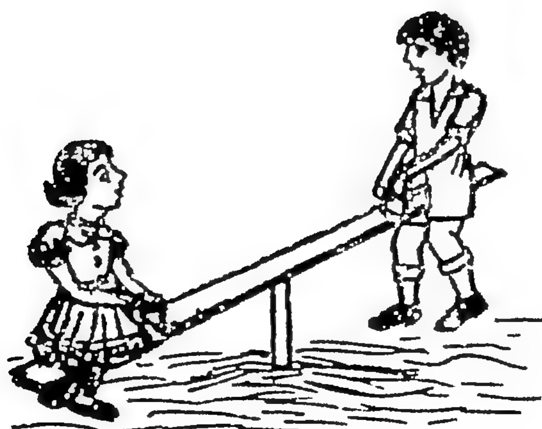
वृद्धावस्था मृत्यु की संगिनी है। इसी कारण दार्शनिक इसे कालकन्या कहते हैं। जवानी तो ऐसी है जो आकर चली जाती है पर वृद्धावस्था ऐसी है कि जो आकर फिर जाती नहीं। उसका अंत तो फिर चिता मे ही जाकर होता है। पर वृद्धावस्था शरीर का धर्म है। आत्मा तो न जन्म लेता है और न जरा को प्राप्त होता है। जिन लोगों ने अपनी वृद्धावस्था को सुधार लिया अर्थात् सार्थक वना लिया है उनका जन्म सफल हो जाता है। जो लोग वृद्धावस्था मे जीने की कला को नही अपनाते वे लोग सुखी नहीं वन सकते। वृद्धावस्था में देह जीर्णशीर्ण हो जाती है किन्तु मनुष्य की इच्छाएँ प्रवल होती चली जाती है। जव उनकी पूर्ति नही होती, शरीर भी जवाव दे देता है, तो मन में क्लेश उत्पन्न हो जाता है। वृद्धावस्था अन्तिम अवस्था होने के कारण अगर मनुष्य कम-से- कम यह समय ही लक्ष्य प्राप्ति में लगा दे तो उसका जीवन सार्थक हो सकता है। इस शरीर को एक न एक दिन मरना तो है ही तो फिर मरने के पहले ही क्यों न अपने आपको जान लिया जाय। जिस प्रकार सफर का सामान सफर से पहले तैयार कर

लिया जाता है, उसी प्रकार भावी यात्रा का पाथेय वृद्धावस्था में ही तैयार करना चाहिए।

रघुवंशियों का आदर्श

कालिदास ने ‘रघुवंश’ में रघुवंशियों की सबसे बड़ी विशेषता यही बताई थी कि वे बाल्यावस्था में निरन्तर विद्या का अभ्यास करते थे। जवानी में लौकिक व्यवहारी होते थे, बुढ़ापे मे मुनियो के समान जीवन-यापन करते थे एव अत मे वे शरीर को योगियो के समान त्यागते थे।

वास्तव मे जिसने जवानी बना ली उसने बुढ़ापा भी बना लिया। अतः सजग व्यक्ति जवानी को विशेष रूप से बनाने की चेष्टा किया करते है।



वृद्ध की काया जवानी की छाया

वृद्धावस्था युवावस्था की छाया है। वृद्धावस्था में आकर जवानी एक स्वप्न हो जाती है। **जिन्होंने जवानी में ही आध्यात्मिक मार्ग पर चलना प्रारम्भ कर दिया हं, उनके लिए तो वृद्धावस्था भी सार्थक है,** क्योकि वे जवानी मे भी ज्ञानवृद्ध हैं। जिन्होने जवानी मे परमात्मा का भजन नही किया उनसे वृद्धावस्था मे भी भजन नही हो सकता। उनका भजन में मन ही नही लगता, क्योकि भजन करने के लिए भी सतत अभ्यास की आवश्यकता है। हमारी एक वहुत निकट की रिश्तेदार थी। वह इतनी आचारवान थी कि अंगीठी तक को भी धोकर खाना वनाती थी। किन्तु वृद्धावस्था में भी उनके मुख से कभी राम-नाम नही निकला, क्योकि राम उन्ही के मुख से निकलता है जिनको 'राम के उच्चारण का अभ्यास होता है। **विना अभ्यास नाम-स्मरण भी नहीं होता।**

अभ्यास और वैराग्य

अगर वृद्धावस्था में मनुष्य देह-वुद्धि से ऊपर उठे तो उसके जीवन का काम वन जाय।

जरा अवस्था और शरीर की निर्बलता को देखकर मनुष्य मे वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। उस वैराग्य को साधना में लगा दे तो अभ्यास होने में देर नही लगती। अभ्यास और वैराग्य का योग उसे प्रसन्न कर देता है। शरीर त्यागने के पहले ही अभ्यास और वैराग्य के प्रवाह में देहाभिमान त्याग दे तो फिर चाहे शरीर बने या बिगड़े, उसमे कोई फर्क नही पड़ता। वह सदा जीवन-मुक्त-सा ही रहता है।

जीवन का अनुभव भी अनमोल और विरल होता है। बुद्धि-मान उससे स्वय लाभ उठाते है तथा दूसरों को लाभ देते है। जो दूसरे के अनुभवों से लाभ नही उठाता और न अपने जीवन के अनुभवों से लाभ उठाता है, ऐसा प्राणी चेतनाहीन समझा जाता है।

वृद्धावस्था को अनुभव की कसौटी पर कस कर हम उसे सर्वथा सार्थक बना सकते है। अतः हमें अपनी जवानी के अनुभवों से वृद्धावस्था में लाभ लेना चाहिए। लोग कहा करते है कि 'कही बड़े की कीजै।' बड़ो के अनुभव के ही कारण उनका कहना और मानना आवश्यक बतलाया गया है।



मनुष्य का असली बीमा

बीमा कपनी मनुष्य के जीवन का बीमा तो कर लेती है किन्तु उसके जीने की गारटी कभी नही देती, कि आप इतने समय तक जियेगे ही। मेरी दृष्टि मे वीमे की पालिसी 'मरने' की ही अकाटच गारंटी है। इस मृत्यु-पत्र को हम जीवन की आशा वनाये वैठे है। वीमा कंपनी द्वारा दी हुई वीमे की पालिसी में यह साफ लिखा रहता है कि तुम्हारे मरने पर अमुक रकम जिन्हें तुम अपना उत्तराधिकारी मान वना रहे हो, उन्हे मिलेगी। इस कारण वीमा पालिसी जिन्दगी या जीने का वीमा नही किन्तु मरने की गारंटी अवश्य है।

मनुष्य अपनी जिन्दगी मे अपने पर आश्रित परिवार के सदस्यों के लिए तो सोचता है कि मै उनके जीवन-यापन के लिए भी कुछ प्रवंध कर दूं, किन्तु अपने जीवन का वह कुछ प्रवंध नही करता कि मै कैसे और किस प्रकार जीवन जीऊं। अपनो के वजाय हम सर्वप्रथम अपनी सोचे तो अपनी और दूसरों की—सवकी समस्या हल हो जाये। हम अपना और अपनों—दोनों का भला कर सकें। इस प्रकार हमारा आदर्श जीवन हम एक उत्तरदायित्व

के रूप में अपनी संतति के लिए छोड़ जायें जो उनके काम आ सके। भले ही हम सम्पत्ति कितनी ही छोड़ जाये, वह उनके सही उपयोग मे आयेगी या नहीं यह तो समय ही बतायेगा। अक्सर यह देखा गया है कि जितनी ज्यादा संपत्ति लोग छोड़ जाते है उनकी संतान उनको उतनी ही जल्दी भूल जाती है। कारण यह है कि सतान तो धन संभालने में लग जाती है। उन्हें फुरसत ही नही रहती कि उन्हे बड़े-बुजुर्गो का खयाल आये। जिनको बड़े-बुजुर्गो का खयाल आता और जिनमें प्राचीन सभ्यता भरी हुई है ऐसे उत्तराधिकारी बुजुर्गो की प्रत्येक जवाबदारी सभालते हुए उनका भी खयाल रखते है। उनकी संस्कृति का आदर करते है। वे उनके सद्‌गुणों को पहचानते है। उनसे प्रभावित भी है। क्योंकि जो जिससे प्रभावित होगा वह वही बनने की चेष्टा भी करेगा। इस कारण बुजुर्गो के प्रति आदर-सम्मान रखते हुए सस्कृति के ये भक्त उनके सद्‌गुणों को अपने मे लाते है। वे ही वास्तव मे सच्चे उत्तराधिकारी भी बनते है। वे ही अपने पूर्वजो का सम्मान करते है। ऐसी सन्तान अपने पूर्वजो की सस्कृति का बीमा भी स्वयं होती है।



खण्ड पांच

संत और मनीषी

● सच्चा विरक्त उसी को कहना चाहिये जो मान के स्थान से ही सदा दूर रहता है। वह सत्संग में स्थिर रहता है और अपना कोई नया समुदाय नहीं चलाता ●

—संत एकनाथ

एक संत से भेंट

एक दिन मुझे किसी मित्र का टेलीफोन आया कि मेरे घर पर आज सायंकाल एक विचित्र ढग के संत पधार रहे है ; आप से भी अनुरोध करता हूं कि आप भी आये ।

सायंकाल जब मै मित्र के घर पर पहुचा, तो वहां बहुत भीड़-भाड़ थी । संत रेशमी लुंगी पहने हुए थे । उनका ऊपर का धड़ नंगा था । बीच-बीच मे वे सिगरेट पीते जाते थे । उन्हे देखकर मेरे मन मे कुछ प्रतिरोध हुआ कि ये कैसे सत हैं ? बड़े फैशनेबल (शौकीन) प्रतीत होते है । खैर, मै ऐसे विचारो में निमग्न हुआ उनके पास शांत बैठा रहा । आगन्तुक लोगों ने उनसे कुछ प्रश्न भी छेड़ दिये ।

किसी ने पूछा– आत्मज्ञान कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?

सत ने कहा – आत्मज्ञान की प्राप्ति का परावाक् ही एक माध्यम है । यह माध्यम अनुभव का विषय है, वाणी का विषय नही । पर मन की वृत्ति-शून्यावस्था मे यह अनुभव होता है ।

इस प्रकार आध्यात्मिकता के बारे में बड़ी-बड़ी लबी चर्चाएं हुई किन्तु ऐसी चर्चाओं में उस समय तक कुछ सार नही जब तक कि

मनुष्य अंतर्मुख होकर अपनी ओर नही लौटता, स्व-पन का स्वयं अनुभव नहीं कर लेता। जब तक ऐसा नही होता, मात्र चर्चा से आत्म-प्रत्यय नही होगा।

परावाणी

जब उन्होंने परावाणी की बात कही, तो मुझे ऐसा ज्ञात हुआ कि ये कोई अनुभवी महापुरुष हैं। उनकी आंखों मे मस्ती झलकती थी। उनके रोम-रोम से प्रेम उमड़ रहा था। वे संत अपने मस्तक से पसीना पोंछकर किसी के गले में लगा देते थे। वह पसीना इतना सुगन्धित था कि उसकी सुगन्धि चारों तरफ फैल जाती थी। मेरी ओर भी उन्होने इशारा किया और मुझे अपने पास बुलाया। जब मैं उनके नजदीक गया तो मेरे गले को भी उन्होंने स्पर्श किया, जिससे मेरा गला भी सुगन्धि से भर गया। रात भर मुझे अपने शरीर से सुगन्धि आती रही। यह घटना मुझे आश्चर्यजनक-सी लगी, क्योंकि योग के द्वारा निर्मल शरीर हुए बिना ऐसा नही होता। इसी कारण दूसरे दिन मैं उनके पास गया। उस समय बातचीत करते हुए उन्होने मुझे बताया कि परमात्मा ही परमगुरु है। वह तुम्हारे अन्दर बैठा है। वह जन्म की पहली सांस के साथ ही तुम्हारे साथ आया। उसे केवल पहचानने की जरूरत है। उनकी इस बात मे मुझे कुछ रहस्य प्रतीत हुआ ; क्योकि परावाणी के प्रेप्सु प्राण से औपचारिक संबंध ही उसे मानते हैं।

फिर उन्होंने मुझसे पूछा कि तुम कौन सी भाषा जानते हो ? मैंने कहा कि मैं हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी भाषा जानता हूं। उन्होंने पूछा—आप अच्छी तरह कौन सी भाषा जानते हो ? मैंने

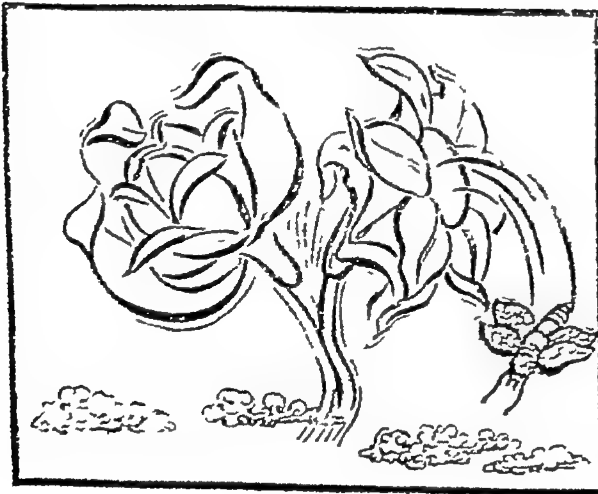
उत्तर दिया–हिन्दी। उसके बाद मेरे सामने एक कोरा कागज मगाया गया। उस समय उन्होने मुझसे कहा–आंखे बंद करो। मैने आंखे बंद कर ली, पर जब आंखे खोली तो देखा कि उस कागज में श्रीकृष्ण भगवान का नाम लिखा हुआ है। उस कागज को मैने जेव में रख लिया। रास्ते मे मुझे ख्याल आया कि कागज निकाल कर देखू। जब निकालकर देखा तो कागज कोरा का कोरा ही मेरी जेब से निकला।

सिद्धियों में महत्वबुद्धि नहीं

उस सत ने मुझे यह भी वताया था कि कार्य-योग मे नही पड़ना चाहिये, अर्थात् **बाह्य चमत्कारिक क्रियाओं में नहीं पड़ना चाहिये, क्योंकि ये मनुष्य के सत्य स्वरूप की प्राप्ति के लिए रुकावटें है।** यदि ये आये भी तो इनकी ओर ध्यान भी नही देना चाहिये। **सिद्धियां प्राप्त हों तो भी इनमें महत्वबुद्धि नहीं करना चाहिये।** ये भगवान की शक्तियां है जो किसी भी तत्क्रियाशील को प्राप्त हो सकती है। मनुष्य का असली लक्ष्य तो आत्मज्ञान प्राप्त करना ही है। वह चर्चा या वार्तालाप करने से सिद्ध नही होता अपितु उसे अनुभव में लाने से ही होता है। सिद्धिया आकर चली जाती है कितु ज्ञान होकर फिर नही जाता। **अतः स्वरूप-ज्ञान ही सच्ची सिद्धि है।**

वे सत शायद अव भी विद्यमान है। शरीर से वंगाली है। लोग उन्हें दादाजी के नाम से पुकारते है। मुझे उनकी उम्र चालीस साल के करीव लगती थी, कितु किसी ने वताया कि वे चालीस साल से ऐसे ही दीख रहे है। हो सकता है उनकी उम्र वहुत अधिक हो। ठीक है, **योग से दिव्यता और निरासक्ति और त्याग-**

वैराग्य से ज्ञान हो जाता है किंतु प्रारब्ध कर्म जो शरीर-यात्रा को चलाते हैं इनका प्रभाव, जबतक वह शरीर है, रहता है। सन्त में ज्ञान से मस्ती, योग से शरीर की दिव्यता, पसीने में भी दिव्य गंध तथा प्रारब्ध भोग के कारण सिगरेट पीना चल रहा था। अतः योगी सन्त ज्ञानीजनों के जीवन-मुक्त होने पर भी प्रारब्ध-भोग तो अभ्यासवश भोगने ही होते हैं। यह ठीक है कि वे भी उन्हें बन्धनकारक नहीं होते।



महात्मा का तख्त

अप्रैल का महीना था। सर्दी जा रही थी और गर्मी आ रही थी। बीच का मौसम बहुत ही सुहावना था। पक्षी चहचहा रहे थे। वैशाखी के मौके पर हरिद्वार में अर्धकुंभ जैसा मेला लगा हुआ था।

मैं एक-दो व्यक्तियों के साथ महात्माओ को भोजन के लिए आमन्त्रित करने गया। कुछ महात्माओ ने वड़ी सरलता और प्रेमपूर्वक हमारा आमत्रण स्वीकार कर लिया।

गृहस्थों के लिये नहीं !

हम एक ऐसे महात्मा को भी आमन्त्रित करने गये जिनका आश्रम वड़ा विशाल है। उस विशाल आश्रम में विशाल मदिर है। उस विशाल मन्दिर की विशाल मूर्ति देखकर मेरा चित्त प्रसन्न हो गया। मैंने महात्माजी को नमस्कार किया। वहां वैठने के लिए कोई खास स्थान नही था। हम इधर-उधर वेठने की प्रतीक्षा करने लगे। इतने में महात्मा जी अपने हाथ से एक वहुत वजन-

दार दरी हम लोगो को बैठने के लिए खीचकर लाने लगे।

मैने कहा—महाराज, इतना कष्ट करने की क्या आवश्यकता? हम इसी तख्तपोश पर बैठ जाते है। इतना कहकर हम उस पर बैठ गये। हमको बैठते हुए देखकर महात्माजी को रोष आ गया। उन्होने कहा कि यह तख्तपोश महात्माओं के बैठने के लिए है, गृहस्थो के बैठने के लिए नही। यह बात सुनकर हमें ऐसा प्रतीत हुआ मानो वह तख्तपोश नही था बल्कि किसी सम्राट के बैठने का तख्त (सिहासन)! जिस प्रकार राजा-महाराजा के तख्त पर कोई नही बैठ सकता, उसी प्रकार महात्मा के तख्त पर भी बैठना वर्जित! आश्चर्य हुआ। महात्मा जी तख्त के साथ-साथ स्वय भी सख्त बन गये थे।

बहुत बार देखा गया है कि त्याग और वैराग्य का उपदेश देनेवाले की अगर एक लंगोटी भी गुम हो जाती है तो उसका चित्त व्याकुल, खिन्न हो जाता है। एक लगोटी का गुम हो जाना भी उनके लिए असह्य हो जाता है।

हम एक अन्य महात्मा के पास गये तो उन्होने हमारे हाथ पकड़कर प्रेमपूर्वक अपने साथ आसन पर बैठाया। किसी का सत्कार भी अपना ही सत्कार है, जिससे सत्य की प्राप्ति होती है। इसलिए महापुरुष सबका समान भाव से आदर-सत्कार करते हैं। एक महात्मा, जो कि अद्वैत वेदान्त पर प्रवचन करते है और अद्वैत को जीवन मे उतारने का लोगों को उपदेश करते है उनके हृदय में आसन के प्रति इतना द्वैत होगा, यह बात हमारी समझ के बाहर है।

विशाल आश्रम, किन्तु हृदय संकुचित

प्रायः देखा गया है कि जब भी कोई सम्मेलन होता है तो मण्डलेश्वर इत्यादि आगे के आसन पर ही बैठना चाहते हैं। अगर उनको कहीं दायें-बाये या बगल में बैठना पड़े तो उनका हृदय खिन्न हो जाता है, मुंह की आकृति ही बिगड़ जाती है। स्वयं के लिए आसन का इतना महत्त्व और दूसरे के तख्तपोश पर बैठ जाने से रोष करना यह तो विषमता ही है। **विशाल आश्रम में अगर हृदय विशाल नहीं तो भगवान का विशाल मन्दिर और उसमें विशाल मूर्ति किस काम की !**

हमारी दो पौत्रियां है जिनका नाम वन्दना और मुक्ता है। वन्दना की उम्र उस समय पांच साल और मुक्ता की तीन साल थी। श्रावण मास में नई-नई वेषभूषा से सुसज्जित होने की परिपाटी है, इसलिए मैं इन दोनों को श्री हरिलाल ड्रेसवाला की दुकान पर राधा और कृष्ण की पोशाक पहनाने के लिए ले गया। अब प्रश्न यह खड़ा हुआ कि कृष्ण कौन बने और राधिका कौन।

कोई कहता कि कृष्ण बड़े है इसलिए बड़ी लड़की को कृष्ण की पोशाक पहननी चाहिए। संसारियों का सोच-विचार प्रायः इसी प्रकार का होता है। वे समझते है कि वर-वधू में लडका बड़ा होगा और वधू छोटी। इसलिए बड़ी बालिका को कृष्ण के कपड़े पहनाने चाहिये, छोटी को राधिका के। वस्तुतः कृष्ण उम्र मे छोटे थे और राधिका बड़ी।

राधा-कृष्ण का प्रेम वास्तविक प्रेम था। प्रेम निष्काम और निःस्वार्थ होता है। प्रेम दूसरे के लिए जीता है। प्रेम सर्वस्व न्योछावर कर देता है। प्रेम मे देना ही है, लेना कुछ नहीं।

जिस प्रेम में कामना है, द्वन्द्व है, वह प्रेम प्रेम नहीं, प्रेम का छिछला अभिनय मात्र है। ऐसा वास्तविक अपरिच्छिन्न अद्वितीय प्रेम अगर जीवन में उतर आये तो प्रेम ही परमात्मा वन जाता है। प्रेम सदा अद्वैतता चाहता है। अद्वैत घृणा का त्याग और सच्चा प्रेम सिखाता है। यह अद्वैत भाव सच्चे संत एवं महात्मा के सान्निध्य एवं प्रेरणा से प्राप्त हो सकता है।



संत महात्मा : सुगंधित फूल

फूल तो प्रायः सभी सुगन्ध देते है, संसाररूपी बगीचे में संत महात्मा भी फूलों की तरह अपनी सुवास बिखेरे रहते हैं। उन्ही से ससार रूपी वगीचा भी शोभायमान हो रहा है। उन्ही की सुगन्धि सरीखी दिव्य वाणी से ससार सुरभित वना हुआ है। जव हम एक फूल को अपना लेते है, यानी अपनी नासिका के पास ले जाते है, तो नाक के समीप फूल के उपस्थित रहने के कारण हमें उस फूल की सुगधि विशेष रूप से आने लगती है। इसी प्रकार जव किसी एक महान पुरुप के प्रति हमारा हृदय आर्कषित हो जाता है और हम भी उसे अपने हृदय के पास ले जाते है तो उसके उपदेशो का हमें विशेप आनन्द मिलने लग जाता है।

परमानन्द का अनुभव करनेवाले

ऐसे परमानंद का अनुभव करने वाले महान् पुरुष ही गुरु होते

हैं, जिनके पास बैठने से परम शाति का अनुभव होता है। ऐसे शान्त पुरुषों के समीप सदा शांति की वर्षा होती रहती है। दिव्य सतो के पास मैने स्वयं शान्ति का अनुभव किया है। कोई सहृदय व्यक्ति संतो के सत्संग में समाहित हो शान्ति पा सकता है। उनकी वाणी भी अन्तर को आह्लादित करती है। इसी कारण कहा करते है कि सत महात्मा संसार मे सुगन्धित फूल के समान होते हैं।



साधु का उपदेश

एक साधु के पास कोई व्यक्ति कुछ उपदेश पाने के लिए गया। उसने साधु से इसके लिए प्रार्थना भी की। साधु ने उस व्यक्ति को धर्मशाला के एक कर्मचारी के पास भेज दिया। वह व्यक्ति धर्मशाला के कर्मचारी के पास गया। धर्मशाला का कर्मचारी सुयोग्य था। आगंतुक उसकी दिनचर्या को देखता रहा किन्तु उसे कोई विशेषता प्रतीत न हुई। वह एक साधारण मनुष्य था, जो कि आये हुए यात्रियों की देखभाल किया करता था। उनके लिए कमरे खोल देता, कमरे की साफ-सफाई कर देता, रजिस्टर में नाम लिख लेता। शाम को वर्तन मांज-धोकर सोता और सवेरे उठकर उन वर्तनों को फिर धोता। धर्मशाला का मनुष्य न पूजा करता न कुछ पाठ आदि।

आगन्तुक ने सोचा कि साधु ने तो मेरा मजाक किया है, इस व्यक्ति में कोई विशेषता तो है नही! यह समझकर वह वापस लौट आया। साधु ने पूछा कि तुमने उस आदमी से क्या सीखा?

आगन्तुक ने उत्तर दिया कि "महाराज, वहां तो सीखने जैसी कोई वात ही नही थी।" साधु ने उस आदमी की दिनचर्या के वारे में पूछा। आगन्तुक ने धर्मशाला के कर्मचारी की सारी दिनचर्या कह सुनाई। इसके वाद उसने यह भी कहा कि वह रात को वर्तन धोकर सोता और सवेरे उठकर फिर उन्ही वर्तनो को धोकर इस्तेमाल करता था।

अंत.करण की शुद्धि

साधु ने कहा कि वस, यही वात देखने के लिए मैने तुम्हें वहां भेजा था। जिस प्रकार वह कर्मचारी रात को वर्तन साफ करके रखता और सवेरे उन्हे फिर धोता है, ताकि रात भर में पड़ी हुई धूल भी उनसे निकल जाय इसी प्रकार मनुष्य को भी अपने अत.करण को सदा शुद्ध रखना चाहिये। उसे वार-वार मांजना और धोना चाहिये, ताकि अंत.करण जैसी परम उपयोगी चीज पर किसी प्रकार की अशुद्धि न रहने पाये।

जीवन का रूपान्तरण

अत.करण के शुद्ध होने की देर है। आत्मप्राप्ति मे देर नहीं है। आत्मा तो फिर मिला-मिलाया ही है। सारे पवित्र कर्म अंतः-करण की जन्मजन्मान्तरों की अशुद्धि को मिटाने के लिए किये जाते है। अंतःकरण पूर्ण रूप से शुद्ध हुआ कि एक वार का भी 'तत्वमसि' (वह व्रह्म तू ही है) का उपदेश 'अहं व्रह्मास्मि' (मैं ही व्रह्म हूं) यह साक्षात् अनुभव करा देता है। आत्मज्ञान ही क्यो, **जितनी भी परिस्थितियां है वे सब शुद्ध हृदय पर ही फलती और फूलती है।** अतः मन की सफाई सर्वत्र चाहिये।

साधु के इस उपदेश का मर्म यदि हम समझ लें तो हमारा जीवन रूपान्तरित हो जाये।

महात्मा : सत्य संकल्प

महात्मा सत्य संकल्प होते हैं, उनके मुंह से जो भी अनायास निकल जाता है, वही वाक्य सत्य हो जाता है। किसी एक महात्मा को सत्संगी गृहस्थ परिवार ने भोजन के लिए बुलाया, किन्तु जब भोजन तैयार हो गया तो उसका लड़का अनायास ही मर गया। गृहस्थ परिवार ने सोचा कि अगर हम शोक मनाएंगे तो महात्मा भोजन नही करेगे। अतः महात्मा को शांति से प्रथम भोजन करा देना चाहिए। पीछे शोक प्रकट करेगे।

पर आनंद और शोक ये दोनों छिपने की चीजे नही होती। महात्मा आए तो घर मे अजीब सन्नाटा छाया हुआ था। महात्मा ने पूछा कि "रामू कहां है ?" गृहस्थिन ने कहा कि महाराज, वह तो सोया हुआ है। तब सन्त बोले कि जाओ, बुला लाओ। गृहस्थिन ने कहा— महाराज, वह अभी-अभी सोया है। पर महात्मा ने नही माना।

आखिरकार गृहिणी ने कहा कि अच्छा तो महाराज, आप ही

बुला लाये। महात्माजी झट उठकर बुलाने चल दिये। देखा तो लड़के के ऊपर चादर पड़ी हुई थी। उन्होंने बालक को आवाज दी कि बेटे उठ, चल भोजन कर। सन्त पहुंचे हुए थे। लड़का उनकी आवाज सुनकर खड़ा हो गया। यह देखकर घर वाले सभी आश्चर्यचकित हो गये। उनकी प्रसन्नता का पारावार न रहा।

संत सत् संकल्प होते हैं। उनके मुँह से जो बात निकलती है वह अटल होती है। जब ईश्वर के संकल्पमात्र से संसार रच जाता है, तो फिर ईश्वर के परम कृपा भाजन और संत सत्-संकल्प क्यों न होंगे। सच्चे संत के संकल्प सत्य होने ही चाहिये।



निष्काम सेवा

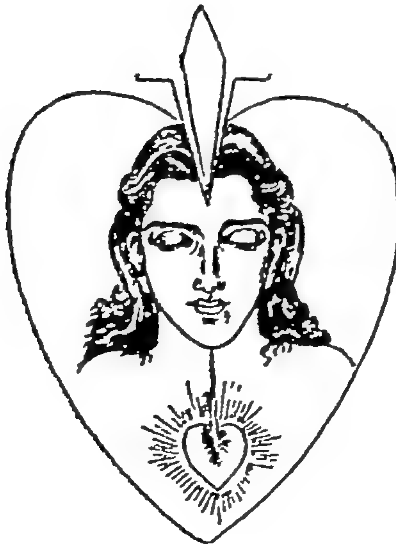
ईश्वर के प्रति भक्ति निष्काम होनी चाहिए। एक वार एक नाई किसी गृहस्थ के बाल बना रहा था। उसी समय एक फकीर वहां आ गया और कहने लगा कि खुदा के वास्ते मेरी भी हजामत कर दो। यह सुनते ही खुदापरस्त वह नाई अपने ग्राहक से बोला, आप थोड़ी देर ठहर जाये। खुदा की खातिर उस फकीर की सेवा मुझे पहले करनी चाहिये। क्योंकि खुदा का काम सवसे पहले है। इसके बाद उसने फकीर की हजामत कर उसे नमस्कारपूर्वक बिदा किया।

कुछ दिनों के वाद जव उस फकीर को कुछ पैसे मिले तो उसने उन्हें उस नाई को देना चाहा। किन्तु नाई ने पैसे लेने से इनकार कर दिया और वह बोला कि मैंने खुदा के वास्ते तुम्हारी हजामत की थी, पैसो के लिए नही। यह सुनकर फकीर खुदा के खयाल में मस्त हो अपने पैसे उठाकर कही एकांत मे इबादत करने बैठ गया।

निष्काम कर्मों के साधक

खुदा उसको कहते हैं जो खुद आए। दुनिया का हर एक व्यक्ति कुछ न कुछ सिफ्त रखता है। नाई के इस निष्काम कर्म से निष्काम सेवा करने का पाठ सीखने को मिलता है। सेवा धन से नही होती, तन और मन से होती है।

तन, मन और धन जिस प्रकार सकाम कार्यों के साधक है उसी प्रकार निष्काम कर्मो के भी साधक है। यदि इनके साध्य कार्यों को करते समय विवेक और वैराग्य भी साथ दे दे तो फिर कहना ही क्या है! शीघ्र ही कल्याण और निःश्रेयस् प्राप्त हो जाय क्योकि **निष्काम कर्मों की चरम परिणति में मोक्ष-भागी शरीर मिलता है जो कि इसी भव में भव से मुक्त करा देता है।**



खण्ड छ :

प्रेम

● जिसने प्रेम का नियम नहीं लिया, जिसने काम को नहीं जीता और जिसने नेत्रों से अलख पुरुष भगवान के दर्शन नहीं किये उसका जीवन व्यर्थ है। ●

— संत तुकाराम

सच्चा सौंदर्य और वास्तविक प्रेम

जो मनुष्य चर्म के प्रेम में पड़ जाता है, वह **जीवन का चरम लक्ष्य खो बैठता है**। अक्सर लोग गोरी त्वचा को सुन्दर मानते है, पर श्याम रंग मे क्या सुन्दरता नही होती? गोरे मुखड़े के ऊपर अगर एक काला तिल हो तो वहुत ही सुदर लगता है। कवियों ने इसकी वड़ी-बड़ी उपमाएं दी है, वडे-वड़े वखान किये है। इस प्रकार कालिमा भी अपना सौदर्य रखती है। सुन्दरता केवल गोरी चमड़ी में ही परिमित नही। इग्लैड, अमरीका मे स्त्रियो के सुनहरे वाल होते है, वहा पर वे काले वालों के लिए तरसती है। कई स्त्रियां अपने वालो को सुरक्षित रखकर अपनी सुदरता वढ़ाती है। कई उन्हे कटाकर अपने को सुदर मानती है। इससे प्रतीत होता कि त्वचा के रग और वालो के रग मे वास्तविक सुंदरता नही है। वाहर का वनावटी दिखावा भी वास्तविक सुन्दरता नही हो सकता। यह तो एक प्रकार का धोखा ही है।

ग्लैमर

आजकल के वहुत से नवयुवक और नवयुवतियां इस दिखावे का शिकार वन जाते हैं। वे वाहर के ग्लैमर और बनाव-शृंगार पर रीझ जाते है। एक दूसरे के प्रति प्रेम प्रदर्शित करने लगते है। जव शादी के वाद वही ग्लैमर उतर जाता है और असलियत सामने आती है तो उनका प्रेम भी वर्फ की तरह शीतल पड़ जाता है। आजकल युवक-युवतियो के युगल-नृत्य होते है। अनेक नवयुवक चाहते है उनकी पत्नियाँ उनके साथ में तो नाचें ही किन्तु अन्य पुरुषो के साथ भी नाचे। पर इस प्रकार अंग-से-अंग मिलाकर नाचना हृदय मे विकार उत्पन्न किये विना नही रहता। वह शात मन को काम-वासना से उद्विग्न वना देता है। स्त्री की तो कामना दृष्टि से ही मनुष्य के मन में विकार पैदा हो जाते हैं, तो फिर उत्तेजक भावभंगिमा के साथ अग-से-अंग मिलाकर नाचने से क्या ऐंद्रिक उत्तेजना उत्पन्न नहीं होती होगी ?

अति आधुनिकतावादी

अति अधुनिकतावादी कहते है कि यह तो आधुनिक मनोरंजन है, इसमे क्या विगड़ता है ? हम कोई व्यभिचार थोड़े ही कर रहे हैं। पर उनकी यह वात युक्तिसंगत नही। कौन ऐसा मनुष्य होगा जिसके मन मे स्त्री के साथ अंग-से-अंग मिलाकर नाचने से विकार पैदा नही होगा ? **कामना के चरितार्थ करने के अनुकूल वातावरण मिलने पर ऋषि-मुनि भी कामना का शिकार वन गये** है। उन्होने भी कामना की पूर्ति के प्रयत्न किये हैं। तो फिर आजकल के युवक - युवतियों के विषय में क्या पूछना। स्त्रियाँ होठो पर लिपस्टिक लगाती है। यह लिपस्टिक शब्द ऐसा है मानो जहाँ कि लिप्सा आकर टिक जाये। मुंह से वाहर निकलते

रहकर अपने भीतर की झांकी करा देती है कि मैं भी तो चाह की सतायी हुई हू ।

सुन्दरता की परख

जब कोई स्त्री बहुत से आभूषण डालकर शरीर की सजावट कर लेती है तो उसका निजी स्वाभाविक सौदर्य ढक जाता है। कामी लोग सौदर्य का ठीक अर्थ नहीं करते । **सुंदरता परखने के लिए हृदय और चरित्र भी सुंदर चाहिये ।** देखने में बहुत सुंदर स्त्री भी अगर चाल-चलन में ठीक नही है तो क्या उसे सुदर कहेंगे ? क्या वह घरवालों की शोभा बढायेगी और उनको अच्छी लगेगी ? नही । न वह उसके चाहनेवाले अनाचारियों को ही बहुत दिन अच्छी लगती है । वे भी उसे मनचली समझ घृणा व्यक्त करने लगते है । **सुंदरता व्यक्ति का व्यक्तित्व है, जो कि अंदर-बाहर के गुणों का अविचल प्रतीक है ।** अगर किसी स्त्री की चमड़ी बहुत गोरी है और वह वोलने मे कटु है तो वह सुदर नही लगेगी ।

मनुष्य के शरीर में मल-मूत्र, हड्डिया और मास-मज्जा आदि भरे हुए है, अगर कही इसके ऊपर चमड़ी न हो तो मक्खिया भिनक-भिनककर एक मिनट भी चैन न लेने दे। **न जाने क्यों इस चाम मात्र पर ही सौंदर्य की भावना हो जाती है ?** कौन से वुरे संस्कार और वुरे भोग ऐसी प्रेरणा देते है ? आजकल के नव-युवक-नवयुवतियों का प्रेम चर्म के प्रति केवल भोग-वुद्धि है। अगर चर्म मे किसी प्रकार का दोप आ जाता है, तो वह प्रीति की नाटिका भी जाती रहती है। ऐमा प्रेम, प्रेम नही केवल भोग-लिप्सा के पूर्ण करने का नाटक मात्र होता है क्योकि प्रेम में स्वार्थ विलकुल नही चलता। **वास्तविक प्रेम तो आत्मा की वस्तु है**

जो कि आत्मभावना के बिना नहीं होता। प्रेम सौदागरी नहीं, कि मैने तेरे लिए यह किया, तू मेरे लिए यह कर। प्रेम मजबूरी नहीं। प्रेम किया नही जाता। किया हुआ प्रेम, प्रेम नही वरन वासनाओं को छिपाने और उन्हे गुप्त रूप से पूर्ण करने का अभिनय है। आत्मा के अपनपे की भावना प्रेम के रूप मे स्वयमेव प्रकट हो जाती है। प्रेम देना जानता है, लेना नही। प्रेम मरना जानता है, मारना नही। सच्चे प्रेम मे प्रेमी और प्रियतम मे कोई भेद नही रहता, वह शरीर से दो भले ही दीखे किन्तु विचार से एक ही होते है। वे एक-दूसरे के सुख मे सुख मानते है, एक दूसरे के जीवन मे अपना जीवन समझते है। प्रेमी बनना कोई आसान काम नही। जो हथेली पर अपना सिर रख सकता है, वही प्रेम कर सकता है।

सासारिक प्रेम प्रेम नही, स्वार्थपूर्ण मोह है। मोह में स्वार्थ भरा रहता है। मोह अपने स्वार्थ के लिए होता है, दूसरे के स्वार्थ के लिए नही। **वास्तविक प्रेम दूसरे को अपने आप में देखने से होता है।** मोह शूल सा दर्द देने वाला है और प्रेम फूल सा आनंददायक है। **जिन्होंने सच्चा प्रेम करना सीखा है, वे ही भगवान के भक्त बनने के अधिकारी है।** प्रेम मे नेम नही होता, चर्म में मर्म नही होता। प्रेम स्वार्थ भावना या 'मै'–'तू' के भेद को बरदाश्त नही करता। प्रेम सच्ची एकता का प्रतीक है।

卐 卐 卐

प्रेम और मोह

प्रेम फूल है, मोह कांटा। प्रेम सुगंध है, मोह दुर्गन्ध। प्रेम निःस्वार्थ है, मोह स्वार्थ। प्रेम निष्काम है और मोह कामान्ध।

जिस तरह कांटा चुभ जाने से मनुष्य दु.खी होता है, उसी प्रकार मोह का डंक लग जाने से वह उसे चुभता है। दुःख का मूल कारण मोह है। जैसे पाव में कांटा लग जाने से उसकी चुभन वनी रहती है और जब तक उस काटे को निकाला नही जाता तव तक वह काटा चैन नही लेने देता, इसी प्रकार जब तक हम मोहरूपी काटा निकाल नही फेकते तव तक उसकी चुभन रह जाती है।

मोह तामसिक

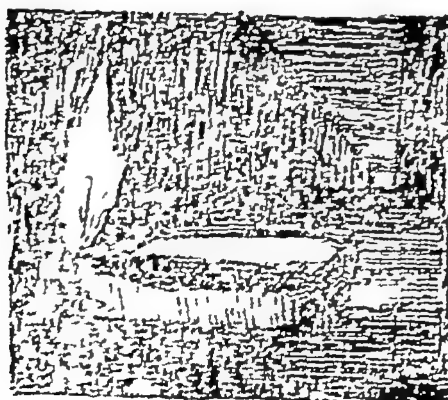
ज्यादातर ससारी पति-पत्नियों का प्रेम नही किन्तु मोह होता है। वे अपने ही स्वार्थ के लिए एक-दूसरे को चाहते है। जब स्वार्थ-पूर्ति की सभावना नही रहती तब एक-दूसरे की चाहना भी नहीं रहती। प्रेम एक वहुत ऊची अवस्था है, जो कि किंचित

ही पायी जाती है। दूसरे के लिए जीना प्रेम है और अपने स्वार्थ के लिए जीना मोह है।

प्रेम सात्त्विक

गोपिकाओं का प्रेम नि:स्वार्थ था, निष्काम था। वे श्रीकृष्ण के लिए जीती थी। उसी की खुशी मे अपनी खुशी मानती थी। प्रेम मे नेम नही होता। **प्रेम सात्त्विक है और मोह तामसिक है।** संसारियों की दृष्टि से मोह को ही प्रेम कहते हैं।

जब प्रेम और मोह का अंतर समझ में आ जाता है तब मनुष्य के अंतर के पट खुल जाते हैं। वह प्रेम के मार्ग पर चलकर नि:स्वार्थता, निष्कामता के सोपान पर चढ़ता हुआ निजस्वरूप को प्राप्त होता है।



प्रेम और व्यवहार

प्रेम में महान शक्ति है। प्रेम जीवन-कल्याण है। जहा प्रेम नहीं, वहा जीना कलह का कारण वन जाता है। प्रेम प्रकाश है जो मनुष्य को भयरूपी अन्धकार मे ठोकरे खाने से बचाता है। जहां प्रेम होता है वहा परस्पर गलतफहमी नही होती है, किन्तु जहाँ प्रेम के नाम पर स्वार्थ सिद्धि की जाती है वहाँ पर मनुष्य की स्वार्थ भावना प्रकट होकर वाधक वन जाती है। प्रेम नि स्वार्थ और निष्काम है। प्रेम होता ही अपनत्व मे है, जहा कोई द्वैत नही होता।

गोपियों का प्रेम नि स्वार्थ प्रेम था। वे लाला को माखनचोर कहती थीं और उसकी चुगली यशोदा मा से भी करती थी। प्रेम में मनुष्य किसी को गाली भी दे तो गाली वुरी नही लगती। प्रेम गाली मे भी प्रेम के भाव को पहचानता है।

प्रेम और कर्तव्य

राम व रावण के युद्ध मे जव मेघनाद मारा गया, तो उसकी

स्त्री सुलोचना उसके कटे सिर को युद्ध भूमि में ढूँढ़ने निकली, पर वह कही पर भी नहीं मिला। रावण ने सुलोचना को आदेश दिया कि वह राम के पास जा कर अपने पति का सिर ले आए।

राम के साथ रावण का युद्ध होने पर भी राम के प्रति उसका आन्तरिक प्रेम था। यही कारण था कि उसने श्रद्धापूर्वक राम— अपने शत्रु— के पास सुलोचना को भेज दिया।

जव राम वनवास से वापस आए तो सीता के बारे में नगर में चर्चा होने लगी। एक धोवी ने सीता के चरित्र के ऊपर आक्षेप कर डाला। राम ने इसे ही जनता की आवाज समझा। एक आदर्श राजा के नाते प्रेमपूर्वक उन्होंने सीता का परित्याग कर दिया। पति के नाते वे सीता से पूर्ण प्रेम करते थे तथा उन्हें सीता का वियोग असह्य था, परन्तु राजा के नाते उन्होंने कठोरतापूर्वक सीता का परित्याग कर अपने कर्तव्य को निभाया।

श्रीराम को जव वनवास की आज्ञा हुई तो वे वन में भी प्रेमपूर्वक गए। प्रेम से वन में जाना उनके लिए दुःखद न होकर सुखद हो गया। वनवास को उन्होंने तप और अपने कल्याण का मार्ग समझा। **महापुरुष आपत्ति को भी प्रेम से सम्पत्ति बना लेते है।**

प्रेमपूर्ण कार्य और वेगार

गांधीजी जव जेल मे थे तो वे अपने कमरे को झाडू से स्वयं ही प्रेम से साफ करते थे। वही उनके एक अनुयायी भी जेल में थे। उन्होंने कहा कि झाडू का काम वे किया करेगे। पहले तो गांधीजी ने इसे नही माना किन्तु उनके अनुग्रह पर उन्होने मान लिया।

अनुयायी महोदय ने चार दिन झाडू दिया, तो उसके वाद

गांधीजी ने फिर अपने हाथ से झाड़ू देना शुरू कर दिया। अनुयायी ने इसका कारण पूछा तो गांधीजी बोले कि झाड़ू भी प्रेम से देना चाहिए, बेगार समझकर नहीं।

गांधीजी जब झाड़ू देते थे, तो कमरे के कोनो से भी गर्दोगुबार निकाल कर साफ करते थे, किन्तु उनके अनुयायी जल्दी-जल्दी झाड़ू देकर बेगार जैसा करते थे। गाधीजी ने बताया कि झाड़ू भी प्रेम से दिया जा सकता है।

यशोदा माता ने श्रीकृष्ण को प्रेम से ओखली में बाधा था। उनका मन नही मानता था, किन्तु गोपियों के कहने पर दण्ड देना उचित समझा। प्रेमपूर्वक किसी को दण्ड भी दिया जाये तो दण्डित को प्रेम की ही अनुभूति होती है।

युद्ध में भी प्रेम

प्रेम से लड़ाई भी लड़ी जा सकती है। कोई जाति-द्वेष तो किसी सैनिक का होता नही। चूकि दूसरा देश हमारे देश पर आक्रमण कर रहा है और सैनिक लड़ाई के मैदान मे अपने देश का रक्षक है, अतः विपक्षी सैनिक को मारना दूसरे सैनिक का धर्म है। किन्तु देखा गया है कि अवसर मिलने पर उनके परस्पर व्यक्तिगत व्यवहार में कटुता नही आती।

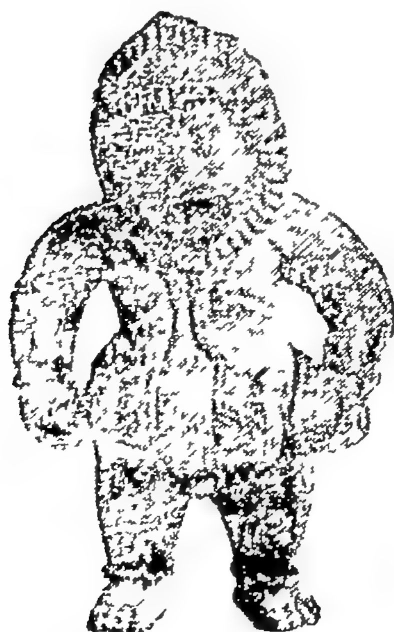
सीता जब वाल्मीकि के आश्रम में थी, उस समय राम द्वारा छोडा अश्वमेध का घोड़ा लवकुश ने पकड लिया और युद्ध छिड़ गया। लवकुश ने अपने बाणो द्वारा लक्ष्मण और भरत को हरा दिया व अन्त मे राम को भी पराजय माननी पडी। जब युद्ध हो रहा था, उस समय सीता इस बात से सचेत थी कि युद्ध पिता-पुत्र

मे हो रहा है। श्री राम पर सीता का अपना प्रेम होने पर भी उन्होंने इस भेद को लवकुश पर प्रकट होने नही दिया।

जगत में प्रेम से जीना ही जीवन है और जो इस रहस्य को समझ लेता है, उसके लिए झाड़ू देना, युद्ध करना और दण्ड देना सभी प्रेम के अन्तर्गत होते है।

प्रेम का वन्धन, वन्धन नही वल्कि वन्धन से मुक्त होने का उपाय है। इसलिए श्री सुमित्रानन्दन पंत ने लिखा--**'तेरी मधुर मुक्ति ही बंधन।'** तात्पर्य यह कि तेरा मधुर वन्धन ही मुक्ति है।

वन्धन तो वस्तुतः मोह मे होता है, प्रेम में नही।



प्रेम नदी के तीरा

आधी रात प्रभु दरसण दीनो प्रेम-नदी के तीरा–यह मेवाड की परम भक्त मीराबाई के एक पद की अतिम पंक्ति है। भक्तों की लोकोत्तर मस्ती की सभी सूझें निराली होती है। उनके भाव भी सब ओर होते हुए सर्वेश के चरणों मे ही जा विराजते है।

यहां 'आधी रात' का तात्पर्य मौन और शाति का समय है, जबकि चारो तरफ सन्नाटा छाया रहता है। उस समय बहुत से लोग उठकर परमात्मा का ध्यान भी करते है। जिन्हे भजन-ध्यान के लिये नि:शब्द एकान्त नही मिलता वे आधी रात के समय समुदाय मे भी एकान्त की-सी शून्यता और शाति पा जाते है। कामी भी अर्धरात्रि का ऐसा ही समय चाहता है। काम (वासना) मे और प्रेम मे साधारण मनुष्य को कोई अन्तर दिखाई नही देता, किंतु एक है अंधकार तो दूसरा है प्रकाश, एक नकली फूल है तो दूसरा है असली फूल, एक मे दुर्गन्ध है तो दूसरे में सुगन्ध ही सुगन्ध है। वासना मे आत्म-विनाश है पर प्रेम में आत्म-विकास।

कामी की दृष्टि

कामी की दृष्टि सतृष्ण होती। वह जहां भी जायेगा उसकी दृष्टि में काम ही भरा होगा। वह आत्मसौंदर्य न देख केवल अंग-सौंदर्य पर ही फिदा होगा। उसे भी भोग से विनष्ट करने की ही सोचेगा।

प्रेम की दृष्टि में एक प्रकार का अमृत निर्झरित होता रहता है। यह एक आत्मिक अद्वैत दृष्टि है जो अपने से अपने प्रेमी को भिन्न नही देखता। प्रेमी के अन्दर सद्भाव, शान्तता और सरलता आदि सभी गुण स्वयं ही आ जाते है। वह अपने उपास्य को अपना ही आत्मस्वरूप समझता है।

सहज नृत्य

मीरा भगवान के मंदिर मे रात-रात भर जाग-जागकर उनसे वातें किया करती थी। जव राणा किसी जासूस को भेजकर वाहर से पता लगाते तो उन्हे भ्रांति हो जाती कि वह अन्य किसी व्यक्ति से वाते करती है। किंतु मीरा तो अपने ध्येय को अपने सामने उपस्थित समझ आत्मविभोर होकर नाचती थी। नाचने-नाचने में भी फर्क होता है। सीखा हुआ नाच अन्तरंग नहीं, वहिरंग होता है किंतु अन्दर से निकला हुआ नृत्य सहज और स्वाभाविक होता है। इसकी तुलना कोई नहीं कर सकता। यह एक अद्वितीयानन्द की अभिव्यक्ति है। ऐसा नृत्य मनुष्य मे तभी आता है जव कि वह स्वय को विलकुल भूल गया हो, देह-भाव से ऊपर उठ परमात्म-भाव मे आ गया हो, उसने अपने "मैं" को भी परमात्मा मे मिला दिया हो। उसका "मैं" अपने आप भगवान मे मिलकर मिट गया हो। रह गया हो दोनों ओर केवल भगवान

ही भगवान, उस समय नाचनेवाला भगवान और नचानेवाला भी भगवान ही हो जाता है। मीरा के गिरिधर नागर मीरा के लिये मूर्ति न होकर एक चैतन्य सर्वेश थे। मीरा उनसे ही बोलती और उन्हे ही नाच कर प्रसन्न करती थी। वे ही उसके अन्तरात्मा थे ।

हमें कुछ साधु उज्जैन के कुंभ में क्षिप्रा नदी के तट पर मिले। प्रातःकाल छः बजे घूमने के लिये हम निकले तो वहा पर देखा कि कुछ साधु धूनी रमाये हुये सुल्फा पी रहे है। मुझे जिज्ञासा हुई। मैने उनसे पूछा कि आपकी साधना क्या है ?

वृत्तिनिरोध

उन्होने बताया कि रात को हम दो बजे उठ जाते है। सुल्फा हमें नीद नही आने देती। उस काल जब बिलकुल सन्नाटा छाया रहता है, किसी प्रकार की आवाज नही आती, हम ध्यान मे बैठते है।

मैने पूछा, आप ध्यान किसका करते है ? तो उन्होने बताया कि 'केवल सन्नाटे का।' **बाहर के सन्नाटे का ध्यान करते-करते धीरे-धीरे हमारे मन में सन्नाटा छा जाता है।** हमारी वृत्तिया लय हो जाती है। उस समय हमे एक विशेष आनंद की अनुभूति होती है। आनन्द वृत्ति-निरोध है। नशा भी वृत्ति निरोध का एवं अपने को भूल जाने का एक उपाय है, पर है तमपूर्वक, सुषुप्ति के समान; अतः सन्त शुद्ध सात्त्विक ढग के निरोध को उत्तम मानते हैं। उसमे अपने को बेहोश करना नही पड़ना बल्कि आप ही वृत्ति निरुद्ध होती है। वृत्ति निरोध चाहे जैसे हो आनन्द-प्रद होता है।

रात का समय कामी और प्रेमी दोनो के लिए उपयुक्त है।

कामी के लिये आधी रात काम के आवेग की घड़ी होती है। योगी और भोगी दोनों को सुनसान ही चाहिये। यदि एकान्त हो तो कामी कामक्रीड़ा में ही रात बिता देता है, परमात्मा का प्रेमी परमात्मा के भजन में।

माधुर्य भक्ति

इस प्रकार जो प्रेमी मनुष्य सभी तरह से अपने आप को परमात्मा के प्रति समर्पण कर देता है, वह परमात्मा से एक हो जाता है। जो माधुर्य भक्ति के उपासक है उनके यहां पर परमात्मा ही एक पुरुष है। मीरा एक समय वृन्दावन मंदिर में दर्शन करने गयी। वहा के दरवान ने मीरा को अन्दर जाने से रोक दिया और कहा कि मंदिर के अन्दर स्त्रियों का आना मना है। मीरा ने कहा कि मुझे तो यहां एक ही पुरुष दिखाई देता है। **दूसरा तो दुनिया में कोई पुरुष ही नहीं है।** फिर यहां दूसरा पुरुष कहां से आयेगा ? जब पुजारी ने यह बात सुनी और इस मार्मिक रहस्य को समझा तो वह आकर मीरा के चरणों में गिर गया। **मीरा की दृष्टि में गिरिधर गोपाल को छोड़, दूसरा कोई पुरुष ही नहीं था।**

शांति का आनंद-रस

आधी रात का अर्थ मन का मौन और मन का सन्नाटा भी है। क्योंकि आधी रात में प्राय: यही स्थिति हो जाती है। जहा पर कोई विकार-विचार-सस्कार-व्यक्ति आदि नही रह जाते वहाँ केवल परमात्मा की अनुभूति मात्र ही शेष रह जाती है। इसी समय और ऐसी ही दशा मे परमात्मा की अनुभूति होती है। हमारे मन के अन्दर भी विचारों का तूफान उठता रहता है। मन के संकल्प-विकल्प सर्वदा चलते रहते हैं। अगर हम सावधान

होकर बैठ जाये, केवल साक्षी होकर अपने ही अदर उठते हुए विचारों को आप देखे तो विचार अपने आप विलीन हो जाते हैं, मन निर्विचार हो जाता है। जिस प्रकार रात्रि का सन्नाटा मन को शून्य बना आनन्दनिमग्न कर देता है उसी तरह हमे उस **निर्विचार अवस्था में मन के वृत्तिशून्य हो जाने पर आनन्दानुभूति होने लगती है**। हमे एक विशेष रस खीचने लगता है। हम उस शाति के आनद-रस में डूब जाते है। यही है आनन्दानुभूति द्वारा परमात्मा को पाना, जो कि मन के मौन होने पर प्राप्त होती है। **हरि-प्रेम के प्रवाह के द्वारा प्राप्त हुआ वृत्ति निरोध अखण्डानंद की ओर ले जाता है**। मीरा को प्रेम समाधि मे ही भगवान का साक्षात्कार होता था। प्रेमियों को प्रेम ही महायोग की आवश्यकता पूरी कर देता है। वे योगी से भी शीघ्र आत्मसाक्षात्कार कर लेते हैं।



प्रेम-समाधि

वम्बई से पश्चिम रेलवे द्वारा रतलाम-मथुरा-दिल्ली जाते हुए वड़ौदा पड़ता है। पहले यह वड़ौदा रियासत की राजधानी था।

मैंने वड़ौदा के राजमहल के चिड़ियाघर मे एक शेर देखा जिसका नाम उसके रखवाले ने गंगाराम रखा था। गंगाराम प्रेमावेश मे आकर अपना हाथ उसके मुंह मे दे दिया करता था। शेर भी वड़े प्रेम से उसके हाथ को चाटता हुआ परम संतोष का अनुभव करता। यद्यपि दोनो विभिन्न देहो मे तथा विभिन्न प्रकार के थे पर दोनों के नेत्रों म प्रेम की एक-सी ही अनुभूति होती थी। दोनो की आखे एक दूसरे के प्रति आसक्ति दिखाती थीं। मैंने अचरज के साथ उस आदमी से पूछा कि तुम अपना हाथ उसके मुंह मे दे देते हो, यदि कही वह तुम्हारे हाथ को काट खाए, तो तुम्हारी क्या दशा होगी ?

यह सुनकर उसने कहा कि वाल्यावस्था से ही मैने इस शेर से प्रेम किया है। इसे समय-समय पर खिलाया-पिलाया है। इसकी सेवा की है। इसके स्वास्थ्य का ध्यान रखकर इसे इतना वड़ा

किया है। क्या इसमे आत्मा नही है ? यह मुझे अपना समझता है, मै इसे अपना। मेरी तो इसके साथ यहा तक मैत्री है कि मै निर्भयता के साथ इसके पिंजड़े मे भी घुसकर इससे प्यार करता हूं। कभी-कभी इसके साथ सो भी जाता हू।

प्रेम में अद्भुत शक्ति

इससे ज्ञात होता है कि प्रेम में अद्भुत शक्ति है। शेर जैसा खूखार जानवर भी प्रेम के भाव और बोली को समझता है। उसी की प्रेरणा से अपना व्यवहार भी करता है। एक वार स्वामी रामतीर्थ जैसे महापुरुष को जगल मे शेर मिला। उन्होंने उसकी ओर प्रेम की दृष्टि से देखा। चमत्कार हो गया। शेर का हृदय और प्रेम से देखनेवाले उस महापुरुष का हृदय एक साथ प्रेम से भर गया। बुद्ध के जीवन मे भी ऐसी वहुत सी घटनाए है। उनके जीवन के वारे मे कहा जाता है कि जहा पर वे आ जाते थे, उसके दो-दो मील के दायरे मे हिसक पशु भी उनके शरीर की गध सूघकर अहिसक हो जाया करते थे।

जहां प्रेम नहीं वहां भय

वास्तव मे प्रेम मे यह जगत भी रूपान्तरित हो जाता है। प्रेम के आगे भय ठहर नही कर सकता, जैसे कि प्रकाश के आगे अधकार। भय है ही प्रेम के अभाव का नाम। जहां प्रेम नहीं होता, वहीं भय होता है।

प्रेम आत्मा एव आत्मभाव का परिचायक है। प्रेम मन की एकाग्रता तथा आत्मभावना को वढाता है। निजात्मा की व्यापकता का अनुभव कराता है। वीच के मै-तू के किस्से को समाप्त करता है। प्रेम समाधि ही अनायास प्राप्त समाधि है।

व्यापक प्रेम-तत्त्व

तुलसी-साधना कुटीर, लोनावला मे माली ने अजीर का एक वृक्ष लगाया। एक दिन मैने देखा कि उस वृक्ष की जड़ के साथ एक टूटी-सी पुरानी चप्पल वधी हुई है। मुझे आश्चर्य हुआ कि वृक्ष के साथ चप्पल किसलिये वांधी गयी है?

मैने माली से पूछा कि अंजीर के वृक्ष से यह चप्पल तुमने वाधी या अन्य कोई किसी समय वांधकर चला गया है? माली ने वताया कि इसमे फल नही लगता, इसलिए ऐसा किया गया है। जो वृक्ष समय पर फल नही देता उसके लिए ऐसा करने की मालियो की परपरा होती है।

मैने पूछा, 'क्या ऐसा करने से फल लग जायेगा अथवा अन्य कोई लाभ होगा?' इस पर माली ने कहा कि अव इस पर अवश्य फल लगेगा। और, सच मे ही कुछ समय के वाद वह वृक्ष फल देने लगा। इससे प्रतीत हुआ कि दंड की भाषा वृक्ष भी समझते है। उनमे भी प्राण है। वे भी मानापमान और सुख-दु:ख का अनुभव करते है। वृक्ष के साथ चप्पल वांधना एक प्रकार का

दंड समझकर ही वृक्ष ने फल देना शुरू कर दिया।

सव मनुष्यों, पशु-पक्षियों और वृक्षों में चेतन एक ही है। यही कारण है कि वृक्ष भी मनुष्य के अंतर्भाव को समझते हैं। समय पर अपने भाव अपनी विशेष कृतियो के साथ प्रकट भी करते हैं।

कई वृक्ष विजली का शॉक देने से सूख जाते हैं, हवा लगने से इन्हे प्रसन्नता होती है। तक्षक ने भी प्रथम डंक मार कर वृक्ष को भस्म करके दिखाया था। अनेक वातों मे प्राणी के स्थान मे लोग वृक्षो का उपयोग लेते हैं।

वनस्पतियों में प्रेमानुभूति

एक बार विदेश में एक प्रयोग ऐसा हुआ। वहां दो फूलों के गमले एक ही जैसे वातावरण मे रखे गये थे। एक के आगे प्रार्थना की गयी और दूसरे को ऐसे ही रखा गया। जिस गमले के आगे अभ्यर्थनाएं हुई थी, उस गमले का पौधा दूसरे गमले से अधिक वढ गया। गमले मे लगे वृक्ष पर हरियाली के रूप मे प्रसन्नता चमकने लगी पर दूसरा जैसे-का-तैसा ही रहा। इससे यह वात सिद्ध होती है कि **वनस्पतियां भी प्रार्थना के अन्तर्भाव को समझती हैं**। यही कारण है कि समय-समय पर जड़ी-बूटियो की भी प्रार्थना की जाती है। वे विविध रूप से आश्चर्यजनक कार्य करती हैं।

मान्यता है कि सभी देव एक समय वृक्षों के रूप मे अवतीर्ण हुए एव देवियां लता-पताका वन गयी। अतः लोग इनमें देव और देवियो की भी भावना करते हैं। जीव-जतु, पेड-पौधो व वनस्पतियों मे चेतन सत्ता एक ही है। उनमे किसी प्रकार की भिन्नता नही। इस कारण मनुष्य के अन्तर्भाव का प्रभाव पेड़-पौधो पर पड़े, यह वात स्वाभाविक ही है। व्रजयात्रा करनेवाले समझदार लोग,

किसी लता या फूल-फल को वहां नही तोड़ते । उनकी वहा ऐसी भावना रहती है कि महात्मा भक्त लोग लता-पताका वनकर रहा करते है ।

एक ही चेतन

एक वार कवीर ने अपने पोप्य लड़के कमाल को प्रात काल खेतो पर भेजा । वह सायकाल तक नही आया तो कवीर उसको देखने के लिए खेतो में गये । वहा जाकर देखा तो आश्चर्यचकित हो गये कि कमाल ने खेती तो क्या काटनी थी, वह वही खेत के साथ झूम रहा था । हवा के झोके पौधो को कभी दाये और कभी वाये कर देते थे । उन्ही झोको के साथ कमाल भी स्वत: दाये-वाये झूम रहा था ।

कवीर ने पूछा—कमाल, तुमने खेती नही काटी ?

कमाल वोला—जव मै यहा आया तो खेती प्रसन्नता के साथ झूम रही थी । उसके आनद के साथ मुझे भी आनद आया । मै भी खेती के आनद के साथ आनंद मे झूमने लगा । **पेड-पौधे वनस्पतियों का प्रभाव मनुप्य पर होता है और मनुष्य का प्रभाव इन सव पर । क्योकि सव के अन्दर चेतन एक ही है ।** मानव जगम तथा ये स्थावर शरीरधारी है । अपने-अपने ढग के दोनो देही है ।

कवीर ने गगा मे वहते एक मरे हुए वालक के शव को खुदा के कमाल मे खडा किया । जव वह शव खड़ा हुआ तो वह स्वत: सिद्ध कमाल ही खड़ा हुआ । वह सवमे अपनी ही आत्मा का अनुभव करनेवाला था । खुद के समान खेती मे भी तो कमाल की ही आत्मा थी । वह फिर क्यो न साथ झूमता ।

मजनूं का प्यार

मजनू लैला पर आशिक था। किसी ने मजनू से पूछा कि तू लैला के पीछे क्यों मारा-मारा फिरता है ? अगर इतनी प्रीति तेरी खुदा में हो जाये तो तू सीधा वहिश्त मे चला जाये।

यह सुनकर मजनू ने उत्तर दिया कि मुझसे अगर ईश्वर को भी मिलना हो तो वह लैला के रूप में ही आकर मिल ले। नहीं तो न मिले।

यह है एक सच्चे प्रेमी की अपने प्रेम पात्र के प्रति अकाट्य प्रेम-भावना। प्रेम आत्मभाव की एकत्व भावना की देन है, जो प्रत्येक मे सर्वेश की झाकी कराती है। प्रेम प्रेमपात्र में ही पूर्ण परमात्मा दरसा देता है। प्रेमी अपने प्रियतम की एक-एक चेष्टा मे सर्वेश की कृपा की झाकी देखता रहता है।

प्रतीकोपासना

दूसरे शब्दों मे कहे तो प्रेम एक प्रकार की पूर्ण प्रतीकोपासना है, जो प्रेमपात्र के रूप मे परमात्मा को दिखाती है। प्रेमी आराध्य

की प्रसन्नता मे ही परमात्मा की प्रसन्नता का अनुभव करता है। मजनू की लैला के रूप मे एक प्रकार की प्रतीकोपासना ही थी जिसने कि उसे द्वन्द्वातीत वना दिया था। **जो सत्य व प्रेम मार्ग के दृढ़ पथिक होते हैं वे अपने आप द्वन्द्वातीत हो जाते हैं और अन्त में प्रेम पात्र के रूप में ही परमात्मा का साक्षात् हो जाता है।**



नवनीत आत्मा

एक बार ज्ञान हो जाने पर अज्ञान की निवृत्ति होते ही फिर दुबारा अज्ञान नहीं होता– जिस प्रकार दही से नवनीत निकलने पर वह दुबारा दही नहीं बनता । फिर वह नवनीत चाहे लस्सी के घडे मे पड़ा रहे या अलग, उसमे कोई अतर नही पडता । इसी प्रकार ज्ञानी चाहे प्रवृत्तिपरायण रहे या निवृत्तिपरायण, वह तो सदा मन से निरासक्त व निर्लिप्त ही रहता है। दही संसार के तुल्य है। उसको जब अद्वैत की मथानी मथती है तो ज्ञान-नवनीत ऊपर आ जाता है । इस निकले हुए नवनीत को फिर से पानी मे मिलाना चाहे तो उस पर कमल-पत्र की तरह पानी ठहरेगा नही । वह तो पानी मे रहता हुआ भी पानी से निर्लिप्त ही रहेगा। अद्वैत की मथानी हो और प्रेम की रस्सी, तभी ज्ञान-नवनीत निकल सकता है। प्रेम हृदय का मथन कर सारे विकार निकाल देता है, फिर उसमे से 'ज्ञान' नवनीत का प्रादुर्भाव निरन्तर उत्पन्न कर देता है ।

नित-नव : नवनीत

नवनीत उसको भी कहते है कि जो नित नव ही रहे, कभी पुराना न हो। ये बिलकुल आत्मा के लक्षण है क्योंकि आत्मा कभी पुराना या जीर्णशीर्ण नहीं होती। वह नित्य नयी ही रहती है। इस कारण उसको नवनीत भी कह सकते है।

स्निग्धता का प्रादुर्भाव

जैसे नवनीत दूध का सार तत्त्व है, ठीक उसी प्रकार आत्मा मनुष्य-देह का सार तत्त्व है। नवनीत आत्मा है। जब ससार रूपी दही से आत्मा का मन्थन करके एक वार पृथक के रूप मे जान लिया तो फिर अन्य कुछ जानना वाकी नही रह जाता। नवनीत से घी वनता है और घी मे है स्निग्धता। भोजन इत्यादि मे स्निग्धता भोजन की आत्मा है, जिससे सभी भोजन स्वादिष्ट वनते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के अदर प्रकाशस्वरूप आत्मा ज्ञान-रूपी नवनीत की स्निग्धता भक्ति या विश्व प्रेम है। हमारी आत्मा हमे प्रेरणा तथा स्फूर्ति दे रही है। इसका साक्षात्कार जव हो जाता है उसी समय मानव के मन में स्निग्धता का प्रादुर्भाव होता है। वह विश्व के रूप मे अपनी आत्मा को देखता हुआ सभी के साथ प्रेमपूर्ण वर्ताव करता है। वास्तव मे ज्ञानी ही सच्चा प्रेम कर सकता है, जो कि सर्वत्र अपनी आत्मा को देखता हो।



खण्ड सात

मन - मन्दिर

● जल में नाव रहें तो कोई हानि नही, पर नाव में जल नहीं रहना चाहिये। साधक संसार में रहे तो कोई हानि नहीं, परन्तु साधक के भीतर संसार नहीं रहना चाहिये। ●

—— रामकृष्ण परमहंस

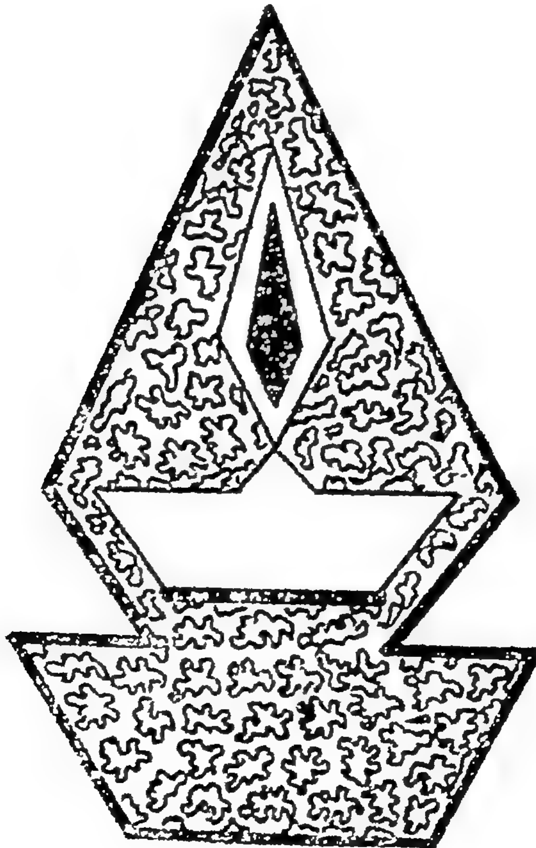
हमारे भीतर उसकी आवाज

बांसुरी से किसी ने पूछा कि तू आनदकन्द श्रीकृष्णचन्द्र को इतनी प्यारी कैसे लगती है कि वे तुझे अपने मुख से सदा लगाये रहते है? उसने उत्तर दिया कि मै अन्दर से खोखली हू। मेरा अपना कुछ भी नही है। मुझमें जिस तरह की प्रभु आवाज लगाते है वही मुझसे निकलती है, मेरी खुद की कोई आवाज नही। मेरी यह ध्वनि उन्ही की है। मेरी नही है। शायद इसीलिए वे मुझसे इतना प्यार करते है।

बांसुरी प्रभु की प्यारी

वास्तव में जव मनुष्य अन्दर से निरहकारी हो जाता है, तो वह प्रभु का प्रिय हो जाता है। उसकी आवाज के रूप मे प्रभु की ही आवाज होती है। वासुरी कहती है कि जंगलो मे वास परस्पर के सघर्षण से अग्नि उत्पन्न करते है और जंगल-का-जगल जला देते है। किन्तु मेरे मे कोई सघर्ष नही है, क्योकि मैने पूर्ण-रूपेण प्रभु को ही सव कुछ समर्पित कर दिया है। वास के अन्दर

गाठें है, किन्तु मुझमे कोई गाठ नही रह गयी है। मेरे अन्दर सात छिद्र है, जो कि मेरी सप्तभूमिकाओं को सूचित करते हैं, जिनके द्वारा मधुर स्वर निकलते रहते है। यह सब प्रभु की कृपा का ही फल है। हरि की निर्विशेष कृपा निरहंकारी अंकिचन पुरुषों पर ही होती है। जब हम सोलह आने उसके होंगे तभी हमारे भीतर उसकी आवाज होगी और हम वंशी के समान उसके समीप एवं प्रिय होंगे।



मन की गांठ

सायंकाल के समय तुलसी साधना कुटीर के तालाब मे म स्नान कर रहा था कि सामने से कुछ गधे आते हुए दिखाई दिये जिन पर लड़के बैठे हुए थे। हमे छोटे तालाब के अन्दर की मिट्टी बाहर निकलवानी थी, इसलिए मैने उन्हे आवाज दी– भाई गधे वाले! किन्तु जब उन्होने नही सुना तो मैने केवल "ओ गधे" कहकर पुकारा। वह रुक गये और पूछने लगे कि क्या काम है? गधे तो हमारी भाषा समझते नही थे, न उन्हे पता ही था कि उन्हे कोई पुकार रहा है, किन्तु गधे पर बैठे उसके मालिक ने मेरी इस आवाज को पहचाना। वह आया तथा बातचीत करने लगा।

शरीर भी इसी प्रकार से है। वह न स्वय को जानता है न अन्य को। कौन उसे पुकार रहा है, उसे इसका पता नही, किन्तु उसके अन्दर बैठा परमात्मा है जो प्रत्येक आवाज को सुन रहा है। वही हमारी आखो द्वारा देखता, कानो द्वारा सुनता, पाव द्वारा चलता व हाथो द्वारा देता-लेता है।

करण-कारण

अब कोई प्रश्न करे कि यदि वही सब कुछ करता-धरता है, तो हमें उसका पाप-पुण्य क्यों ? फिर यह पाप ईश्वर को लगना चाहिए, क्योकि वही हमारे अन्दर करता-धरता है। किन्तु हमे जानना चाहिये कि अगर हम उसको करण-कारण मानते है तो हमें पुण्य-पाप नही लगता, किन्तु जब हम उसको करण-कारण न जानकर अपने को ही करण-कारण मानने लगते है, अपने में परिच्छिन्न अहङ्कृति करने लगते है तो पाप-पुण्य के भागी हम हो जाते है। मैंने यह किया, मै न होता तो यह काम न होता, मैं बड़ा बहादुर हू, मैंने यह लड़ाई व मुकद्दमा जीता— इस परिच्छिन्न 'मै' के कारण कर्ता-भोक्तापन की अहङ्कृति हो जाने के कारण उसका पुण्य-पाप भी हमे ही भोगना पडता हैं। अगर हम ईश्वर की वास्तविकता को भली प्रकार से समझ ले और उसी को करण-कारण मान ले, तो हमारे अन्दर कर्ता-भोक्तापन की प्रवृत्ति न होने के कारण हमे पाप-पुण्य नही लगे। **जब हम कर्ता बनते है, तो भोक्ता भी बनना पड़ता है।** यदि हम कर्ता नही है, तो भोक्ता भी नही। यह सिद्धान्त एकदम स्पष्ट है।

बीरबल-अकबर की कहानिया लोक-प्रसिद्ध है। एक बार बीरबल गधे हाकते हुए शाही दरबार की ओर चला। सामने अकबर को देख जोर से चिल्लाने लगा, 'हुजूर गधे आ रहे है।' इस वाक्य के दो अर्थ निकलते है। एक तो हुजूर अर्थात् अकबर गधे आ रहे है, दूसरा, हुजूर सावधान हो जाइये, गधे आ रहे है। बीरबल बड़ा बुद्धिमान व्यक्ति था। 'हुजूर' को 'गधे' शब्द से अलग कर दिया जाये, तो इसका तात्पर्य एक सूचना हो जाता

है और अगर हुजूर को 'गधे' शब्द के साथ मिला दिया जाये तो इसका तात्पर्य हुजूर को गधा बनाना हो जाता है।

देह और आत्मा की ग्रन्थि

हुजूर अर्थात् परमात्मा सर्वत्र हाजिर है। उसको हम तत्त्वत शरीर से भिन्न करके देख ले तो परमात्मा ही रह जाता है। उस शरीर में भ्राति तभी तक है जब तक कि देह और आत्मा की ग्रंथि नही खुलती। खुल जाने के बाद ससार मे सत्य-दृष्टि नही रह जाती।

अतः मनुष्य में अन्तर्दृष्टि होनी चाहिए। यदि वह अपने को जान जाता है तो उसका हुजूर सर्वत्र हाजिर दीखता है। जड़ भी चेतन का बोध करा देता है।



पागलपन का होश

एक मालिक ने अपने ड्राइवर की किसी गहरी गलती पर नाराज होकर उससे कहा कि 'तुम तो निरे गधे हो'। यह सुनकर ड्राइवर ने उत्तर दिया कि 'हुजूर, अभी पूरा गधा नहीं हूं'। मालिक ने पूछा कि 'पूरे गधे कब बनोगे?' ड्राइवर ने उत्तर दिया कि 'आपके पास रहकर बाकी कसर पूरी हो जायेगी'। यहा मालिक ने तो उससे गधेपन के पूरे होने का समय पूछा था, किंतु ड्राइवर का उत्तर इस ओर नही था। उसके कहने का यह तात्पर्य था कि अभी मैं ड्राइवर के काम में कमजोर हूं। यह कमी आपके पास रहते-रहते पूरी हो जायेगी।

ड्राइवर के उक्त कथन से प्रतीत होता है कि ड्राइवर को अपनी कमियों का भान था। जिसे यह होश है कि मुझमे यह कमी है, वह अपनी कमी प्रयत्न से पूरी कर सकता है। अत उस ड्राइवर के कथन से मैंने सोचा कि जिसे होश है कि मैं पूरा गधा नही हूं वह मानव गधा नही है, न हो ही सकता है। इसी प्रकार जिस पागल को इस बात का पता है कि मैं पूरा पागल नही हू, थोड़ा-

थोड़ा पागलपन मुझमे है, वह भी पागल नही वन सकता। पागलपन का होश रखनेवाला पूरा पागल नही है। जो भी उसमे पागलपन आया है, उस पर भी उसकी नजर है। वह अपने पागलपन के प्रति वाहोश है। अतः वह पागलपन का ख्याल रखते-रखते उससे मुक्त हो सकता है।

अपने प्रति सजग

इसी प्रकार जब हमे अपने अज्ञान का ज्ञान हो जाता है कि हम अज्ञानी है, तो हम अज्ञानी नही रहते, न रह ही सकते है, क्योकि हम अपने अज्ञान पर दृष्टि रखकर उसे दूर करने का भी प्रयत्न कर सकते है। अपने दोषो के प्रति सजग हो जाने से दोष ही नही रह जाते। दोष तभी तक है, जब तक कि हम उनके प्रति सजग नही है। अत. प्रत्येक व्यक्ति को सदा सोचना चाहिए कि मुझमे क्या कमी है और वह क्यो है। तभी वह धीरे-धीरे उन कमियों को भी दूर कर सकता है। अपनी कमी को दूर करने का मार्ग यही है कि वह अपने अनुभव मे आ जाये कि मुझमे यह कमी है।

यह सच है कि कमियो पर दृष्टि रखने पर भी कमिया कमिया ही रहती है पर कालान्तर मे धीरे-धीरे वे अवश्य चली जाती है। वे कमिया जो कि कमीवाले की निगाह मे आ गयी है, उसे प्रभावित नही कर पाती।

पागलपन का ध्यान रखनेवाला सदा पागल नही रहता। न कमियो पर ध्यान रखनेवाले मे कमिया ही सदा रह जाती है। धीरे-धीरे उसकी कमिया स्वय नष्ट होती चली जाती है। एक दिन वह व्यक्ति निर्दोष हो जाता है।

卐 卐 卐

मन की शान्ति

मन की शांति एक परम जीवन-साथी है जिसे अपना कर मनुष्य जीवन की नाव को संसार-सागर से पार उतार सकता है। जो तालाब शान्त होता है उसमें चेहरे की प्रतिछवि स्पष्ट दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार जिस हृदय में शांति वनी रहती है वहां आनन्दानुभूति वनी रहती है। शान्त रहने से अन्तःकरण की मलिनता शान्त हो जाती है। जिस प्रकार स्थिर जल से भरे कांच के घडे मे मलिनताए स्वय ही नीचे बैठ जाती है और ऊपर स्वच्छ जल रह जाता है उसी प्रकार शान्त हृदय मे अन्त करण शुद्ध हो जाता है। अगर मनुष्य के अन्दर शाति है तो प्रेम का भाव बाहर व्यवहार मे प्रकट होता है, वह अपनी शांति दूसरो को प्रदान करता है। शांत मनुष्य के पास शांति और अशात के पास अशान्ति ही रहती है।

कर्तृत्व भाव

स्नानगृह के अन्दर हम गर्म पानी से स्नान करते है। गर्म पानी की

भाप स्नानगृह मे लगे हुए काच को आवृत्त कर देती है किन्तु दस-पन्द्रह मिनट के बाद हम पुन स्नानगृह मे जाते है तो देखते है कि काच के ऊपर कोई आवरण नही रह जाता। वह स्वयं ही साफ हो जाता है। उसे किसी ने साफ नही किया। इसी प्रकार यदि हम मन को तटस्थतापूर्वक शान्त भाव से निहारे तो उसके अदर किसी प्रकार की उद्विग्नता नही रह जाती। जब मनुष्य किसी के प्रति समर्पित हो जाता है तो उसका कर्तृत्व भाव विलीन होने लगता है। और, जहा कर्तृत्व भाव नहीं रह जाता वहा शान्ति-ही-शान्ति बनी रहती है।

शान्ति विषयों मे नही, मन मे

हम अशान्ति को जानबूझ कर मोल लेते है। अमुक काम अमुक समय के अन्दर पूरा होगा कि नहीं— इसी उधेडबुन मे लगे रहते है। अगर किसी जगह कार अथवा बस द्वारा पहुचना होता है और रास्ते मे गाड़ी अटक जाती है तो हम अशान्त होने लगते है। घड़ी - घड़ी घड़ी देखने लगते है। इसी प्रकार कभी खाना भी शान्तिपूर्वक नही खा पाते। खाना - पीना, चलना - घूमना, उठना - बैठना आदि शान्ति से नही कर पाते। रात को सोते समय भी अशान्त ही रहते है। **शांति उसी मनुष्य को प्राप्त होती है जो अन्तर्मुख होता है।** जिसकी दृष्टि बाहर के पद - पदार्थो मे लगी रहती है उसे शान्ति उपलब्ध नही होती। अगर हम विषयो का सही मूल्याकन करे तो वास्तविकता का पता चलेगा कि **शान्ति विषयों में नही मन में है।** जब हम विषयों की महत्ता से उसकी सत्ता को बढ़ा देते है तब अशान्त होने लगते है, किन्तु जब आत्मस्थित होते है तो शान्ति का अनुभव करने लगते है—

" बाह्य वृत्तियां सदा हमे
अवनति पर ले जाती हैं ।
तथा आंतरिक वृत्ति हमे
अनुभव पर पहुंचाती है ।
जव मन होता लुप्त तभी ही
यह निजत्व रहता है ।
जव होती अनुभूति स्वतः की
मन विलीन होता है । "

(लेखककृत—' मन की शान्ति ' से)

'मन' शव्द को उलट देने से 'नम' हो जाता है। जहां नमन होता वहां नम्रता होती है। जहां नम्रता होती है वहा उद्वेग नही होता। जहा उद्वेग नही होता वहां मन शान्त होता है।

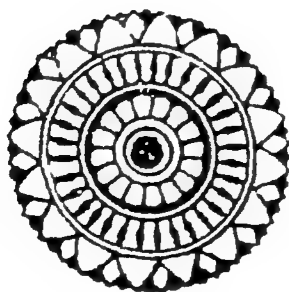


सुख का साधन एक

एक नवयुवक ने अपनी हर अवस्था मे सुखी होने के लिए उन अभीष्ट पदार्थो की लिस्ट वनायी जिन्हे वह सुख का कारण समझता था। उसे ऐसी लिस्ट वनाने मे कई महीने लग गये। जव लिस्ट तैयार हो गई तो वह उसको ले कर एक अनुभवी वृद्ध पुरुष के पास पहुंचा और बोला कि इसमें आराम की कोई खास चीज छूट तो नही गयी? वृद्ध ने उस लिस्ट को वडे गौर से देखा और कहा कि इसमें एक वड़े महत्त्व की चीज रह गयी है। जिसके लिए ये सभी पदार्थ होते है अगर वही नही तो सारे पदार्थ भी किसी काम के नही रहते। वह है—मन की शांति। यदि मन की शाति नही तो भले ही कितने भी पदार्थ क्यो न हो किसी काम के नही। वे अच्छे भी नही लगते। जव मनुष्य का चित्त उद्विग्न होता है, तो उसे महात्माओं का सत्संग भी अच्छा नहीं लगता। यह सुनकर उस युवक ने अपनी लिस्ट मे 'पीस ऑफ माइण्ड' लिख लिया और वाकी के सव काट दिये। नवयुवक ऐसी ही वस्तु प्राप्त करने वृद्ध पुरुष के पास गया था

जिसको प्राप्त कर लेने के वाद और कुछ प्राप्त करना वाकी नहीं रह जाता। वह थी मस्तिष्क की शाति । वास्तव **में जब तक मन की शांति नही तब तक किसी वस्तु का भी आनन्द नहीं उठा सकते।** वास्तव मे शाति मे ही सुख है। शाति के विना कही भी सुख नहीं मिल सकता।

सुखी होने के लिये पहले शाति चाहिये। शाति के विना सुख नही होता। सुखी होने के लिये जितनी मस्तिष्क की शांति की आवश्यकता है उतनी वस्तुओ की नही, क्योकि सारी चीजे मन को शान्त करने का सामान्य उपाय है।



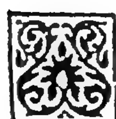
मैं तो तेरे पास में

एक पति-पत्नी एक जगह गृहस्थ जीवन व्यतीत करते थे, किन्तु उनके घर मे कोई औलाद न थी। पत्नी की अनुमति से पति ने दूसरी शादी कर ली। दैववश दूसरी स्त्री के एक बच्चा पैदा हुआ। पहली स्त्री ने उसे गोद लेकर अपना लडका बना दिया। कालान्तर मे पहली स्त्री के भी एक लडका हो गया। पहली के लडके को दूसरी ने गोद ले लिया। बच्चे आपस मे खेलते रहते किन्तु जब आपस मे झगडते तो बच्चे तो एक हो जाते, किन्तु उन स्त्रियो के मनों मे राग-द्वेष बढता जाता। राग-द्वेष यहा तक बढ गया कि वे अपने-अपने गोद लिए हुए बच्चे का ही लालन-पालन करती और दूसरी के बच्चे से द्वेष करती। यह द्वेष इतना बढ़ा कि इसकी भी कोई सीमा न रही। अन्त मे उन दोनो ने एक दूसरे के बच्चे को जहर देकर मार दिया। इस प्रकार दोनो ने अपने ही पेट की सताने मारी और दोनो ही सततिहीन हो गयी। हरा-भरा घर उजड़ गया।

हमारा निजानद हमारा ही अपना अपनपा है किन्तु उसे अपना न समझकर हम दत्तक के समान लिए हुए इंद्रियों के विषयों–शव्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का आनन्द मान लेते हैं। इसी के चक्कर मे जीवन व्यतीत कर देते है। अन्त में एक दिन मृत्यु आ घेरती है। सारा रागद्वेष यही धरा रह जाता है। हम तड़पते हुए ही यहा से चले जाते है।

हमारा निजानंद

यहा समझने की तो वात यही है कि **हमारा निजानंद हमी में है,** इद्रियो के विषयो मे दु ख पाते है। निजानंद के निजी स्वरूप और उसकी उपलव्धि के सच्चे मार्ग को भूल जाते हैं। यह नहीं समझते कि निजानद के सामने यह विषयानद क्षुद्र है। यदि विपय मन को शान्त करके निजानंद की ओर न झुकाये तो वे निरानद ही रहे। अतः **सच्चा आनंद तो निजानंद ही है**। उसी से सव कुछ है।

तेरे द्वार खड़ा भगवान

भगवान् तो हर एक के हृदय में विराज रहा है। तव यह कहना कि भगवान द्वार पर खड़ा है, एक प्रकार से भगवान को दूर रखना है। द्वार पर तो वह खड़ा होता है जो अन्य हो, स्वयं अपने से भिन्न हो किन्तु परमात्मा तो सर्वत्र एव सर्वस्व है, उसी की सत्ता सर्वत्र काम कर रही है, उसी के होने से हमारा होना है। ऐसी परिस्थिति में भगवान को द्वार पर खडा कर देना कुछ हद तक भगवान को अपने से दूर कर देना है।

भक्त की भावदशा

पर भक्ति मार्ग की वात कुछ और है। भक्त भगवान की आराधना उसे अन्य समझकर ही करता है। वह समझता है कि भगवान व्यापक है और मैं परिच्छिन्न हूँ। भगवान सर्वज्ञ और मैं अल्पज्ञ हूँ। भगवान सर्वशक्तिमान है और मैं निर्बल हूँ, भगवान स्वतत्र है पर मैं प्रभु की मर्जी के विना कुछ भी नहीं कर सकता। कहाँ प्रभु और कहाँ मैं ! प्रभु से मेरी बरावरी कैसे हो? भक्त की यह एक भाव दशा है, जिसके परिणाम स्वरूप भक्त

अपने अह के अस्तित्व को मिटा भगवान का साक्षात्कार करता है जो कि उसका वास्तविक निजी स्वरूप है। वह उसी निज-स्वरूप भगवान मे लीन हो जाता है। यह भी इसी प्रकार है जैसे निन्यानवे रुपये मे एक रुपया मिला दिया जाय और वे पूरे सौ रुपये हो जाये। **एक रुपया निन्यानवे में मिल जाये यह भक्ति है और निन्यानवे को एक मे मिला देना यह वेदान्त दर्शन है।**

वास्तव मे भक्ति और वेदान्त की पराकाष्ठा एवं अन्तिम परिणाम एक ही है, चाहे भक्त भगवान मे लीन हो जाये, चाहे भगवान को ही अपने अन्दर उतार ले। तात्पर्य केवल भगवान से एकत्व प्राप्त करना है।

भक्ति की गिनती दो से शुरू होती है और एक मे अन्त होता है। भक्त द्वैत मे रहकर भगवान की पूजा-अर्चना करता है, किन्तु उसका लक्ष्य वही है जो कि वेदान्त का है अथवा यह समझना चाहिये कि भक्ति से आत्मसाक्षात्कार की सभी बाधाओ का शमन कर भक्त अन्त मे परिपूर्ण आत्मज्ञानी हो अद्वैत भाव को प्राप्त हो जाता है।

नजर और नजारे

एक आदमी दस की गिनती पर से विपरीत, दस से नौ, नौ मे आठ की तरह एक-एक अक घटाते-घटाते शून्य तक पहुँच जाता है। ऐसे ही **जब मन शून्य हो जाता है तो भगवान तो रहते ही है।** उनमें न देरी है और न दूरी। वह तो टकटकी लगाकर हमारी ओर चौबीसो घंटे ताकते रहते है। वे तो एक क्षण के लिए भी विश्राम नही करते। किन्तु हम ही अभागे ऐसे है—जो कि उनकी ओर नजर उठाकर भी नही देखते। हमारी नजर नजारों मे घूम

रही है। **जब तक नजर मे नजारे है, तब तक नजर नजर को नहीं देखती।** जव तक द्रष्टा दृश्यो को देख रहा है तव तक अपने द्रष्टापन को नही जानता। किन्तु ज्यो ही दृश्यों मे मन खाली होता है अर्थात् मन संकल्प-विकल्प से रहित हो जाता है, विषय-विषयी भावरहित केवल द्रष्टा ही रह जाता है। यही है नजर से नजर को देखना।

भक्त दस की गिनती से आगे वढता है। अर्थात्, ग्यारह, बारह, तेरह और अन्त मे वह भगवान का अनुभव करता है। वहां पर पहुँचकर भक्त का मन और बुद्धि दोनो भगवान मे लीन हो जाते है। भगवान के सिवा उसके आगे अन्य कुछ नही रह जाता है। वेदान्त प्रक्रिया से मन खाली होकर भगवान से भर जाता है। अर्थात्, **भगवान उस खाली मन में उतरता है जिसमे वेदान्ती का स्वात्म ही ब्रह्म होता है।** जव उसे स्वात्म साक्षात्कार होता है वही प्रभु का उतरना है एवं भक्ति की प्रक्रिया मे भक्त भगवान मे लीन हो जाता है अर्थात् लहर सागर मे मिलकर सागर-रूप हो जाती है।

भिन्न सत्ता नहीं

वस्तुत. देखा जाये तो लहर की सागर मे कोई भिन्न सत्ता नही। लहर को समुद्र से अलग नही किया जा सकता। लहर का अधिष्ठान समुद्र ही है। लहरे समुद्र मे ही उठती है, वे समुद्र की ही है एवं समुद्र से ही है। अगर वेदान्त की परिभाषा मे कहे तो समुद्र ही है। सागर की तरंगों मे यह वात कहे कि 'मेरे द्वार खड़ा समुद्र' तो यह द्वार खड़ा वाली वात सागर और लहर मे भिन्नता पैदा करती है। जब तरंग की सागर मे कुछ भिन्न सत्ता ही नही है

तो वीच मे द्वार को क्यो अड़ाते है। क्योकि द्वार भी तो एक प्रकार से विभाजक ही होता है।

इसी प्रकार सोने के आभूपण से कहा जाय कि 'तेरे द्वार खडा है सोना' तो यह उक्ति भी यथार्थ नहीं है। सोने का आभूपण सोना ही है, जो कि आभूपण के रूप में होकर भी वास्तविक रूप से सोना ही रहता है। इसी तरह वास्तव मे जीव भी तत्त्वतः ब्रह्म ही रहता है। **घटाकाश के समान बुद्धयावृत्त ब्रह्म का नाम ही जीव है। विक्षेप और आवरण के समाप्त होते ही जीव फिर जीव नही ब्रह्म है।**

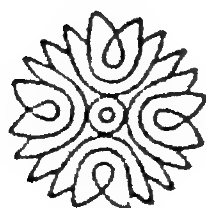
बुद्धयावृत्त

अगर कोई तर्क करे कि मेरे फेफड़ो में जो हवा है वह वाहर की हवा से भिन्न है तो वह शायद कुछ मिनटो में ही दम घुटकर मर जायेगा। उसका जीना तभी तक है जव तक कि उसके प्राणो का एकत्व वाहर की हवा के साथ है, वही अन्दर और वही वाहर है। अन्दर की हवा को प्राण कहते है। वाहर के प्राण को हवा कहते है। इसी प्रकार **बुद्धयावृत्त ब्रह्म को जीव कहते है और त्रिकालावाधित, नामरूपोपाधि रहित जीव को ब्रह्म कहते है।**

भगवान् द्वार पर खड़ा है, इतना भी समझना भक्ति की एक परम स्थिति है। भक्त को यह पता चल जाये कि भगवान खड़े होकर प्रतीक्षा कर रहे है किन्तु हमने अपने मन की किवाड़े वन्द कर रखी है तो इस वात की वेदना ही उसके मन के द्वार को खोल देती है। **सगुण-साकार भगवान उसके निर्गुण-निराकार स्वरूप का स्वयं ज्ञान करा देते है।**

वेदना ही चेतना जगाती है

द्वार भी कोई अन्य नही है। भगवान के यहाँ कोई द्वार नहीं, केवल हमारे मन की कुछ सकुचित स्थिति ही द्वार रूप है, जिसको असंभावना का ताला लगा हुआ है किन्तु ज्यो ही हमे यह निश्चय हो जाता है कि भगवान वाहर खड़े प्रतीक्षा कर रहे है और मै द्वार नही खोल रहा हूँ, तो इस प्रकार की वेदना ही मनुष्य की चेतना को जगा देती है। हृदय-द्वार खुल जाता है और भगवान का साक्षात्कार हो जाता है। **जितनी तीव्र वेदना होती है, उतनी ही शीघ्र बुद्धि निर्मल होती है।** नितान्त निर्मल अन्तःकरण में भगवान् उतरते अथवा भगवत् साक्षात्कार होता है। भक्त और वेदान्तियो के स्वात्मबोधक स्वय भगवान होते है। वे ही विविध प्रकार दोनो को स्वरूप का साक्षात्कार कराते है। जव इन दोनो मार्गो मे से किसी पर भी कोई व्यक्ति आरूढ होता है उसी समय से भगवान उसकी वुद्धिरूपी द्वार पर आ खड़े होते है।



मनोनाश

मन का कभी नाश नही होता, किंतु मन शात हो जाता है तो सकल्प-विकल्पों का त्याग कर देता है। यही निस्तरग भाव मनोनाश है। मन का धर्म सकल्प-विकल्प करना है। जव यह सकल्प-विकल्प करता है, तभी मन, मन कहलाता है पर जव सकल्प-विकल्प नही करता तो मन नही कहलाता। यही मनोनाश है। नष्ट हुआ मन नम जाता है।

मन को उलट देने से वह नम हो जाता है। इसका नम होना भी यही है कि इसकी दौड खत्म होकर इसकी अपनी कोई सत्ता नही रह जाती। यह मौन हो जाता है। मौन होते ही मन शात हो जाता है।

मन दौड़ता रहता है

हमारा मन दौड़ता रहता है। हमारा उस पर कोई अधिकार नही है। वह निरर्थक चिन्तन करता रहता है। हम अपने मन के अन्दर एक काल्पनिक जगत खड़ा कर उसी के वारे मे चिता करते रहते है। यही है मन की व्यर्थ दौड़, जो कि जव तक खत्म नही होती तव तक स्वरूप की स्थिरता नही आती।

मन मारने से मरता नही, दवाने से दवता नही। हम जितना दबाते व मारते है, मन उतना ही उछलता है। मन गेंद की तरह है। गेंद को जितने जोर से दीवार मे मारो उतने ही जोर से वह वापस लौटता है। इसी प्रकार मन को जितना टोको यह उतना ही चचल होता है।

अगर किसी प्रियतम को कहो कि वह अपनी प्रेयसी को भुला दे तो वही जो उसके भूलने की चेष्टा है, उसे वार-वार याद कराने में सहायक हो जायगी। वह उतनी ही वार याद आयेगी।

अंदर से संकल्प उठे

एक आदमी शराव पीता है। हम उसे कहे कि शराव पीना छोड़ दो तो वे तव तक नही छोड सकते, जव तक कि उनके अन्दर से दृढ़ संकल्प न उठे। मानसिक तितिक्षा शराव के स्वाद को भुला न दे।

ऐसे लोग भी देखे गए है जिनके अन्दर घृणा के साथ संकल्प-दृढ़ता आती है। वे तुरंत भी व्यसन को छोड़ देते है। चाहे फिर कुछ भी हो।

मन के प्रति सजग

मन का नाश यही है कि हम मन के प्रति सजग हो जाए। मन के अन्दर क्या विचार उठ रहे है, उनके प्रति तटस्थ होकर उन्हे देखें। हमारी **विचारों के प्रति** तटस्थता तादात्म्य तोड़ **देगी**। मन निर्मल हो जायेगा। **निर्मल** मन मौन होता है। शान्त **मन का नाम ही मनोनाश** है।

卐 卐 卐

मन उजियारा तो जग उजियारा

मन को निज प्रकाश में ले आना ही मन का उजियारापन है। जब मनुष्य का मन निजप्रकाश में आ जाता है, तो उसका स्पन्दन शीतल पड़ जाता है। वह जो बन्दर की तरह एक डाल से दूसरी डाल, एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष में कूदता फिरता था, स्थिर होकर बैठ जाता है। मन के अन्दर विचार उठते ही तब है जब कि हमारे अन्दर वासना जोर मारती है। **विचार वासना का परिणाम** है, जोकि विचारो को जगह देती है और जितनी तीव्र वासना होगी उतने ही अधिक विचार आयेगे और जितनी शिथिल वासना होगी, उतनी ही देर के बाद विचार आयेगा। विचार आते ही तब है जब हम अपना तादात्म्य विचारो से जोड़ देते अर्थात् विचारों के साथ अपना एकीकरण करते है। विचारो के साथ हमारी पृथकता जाती रहती है। उनके साथ हम इतने घुल-मिल जाते है कि विचारो के साथ हमारा किसी प्रकार का अलगाव नही रह जाता। और जहा लगाव होता है, वहां तनाव का होना अनिवार्य है।

हाय मै मर गया

जब हम किसी के साथ सवध जोड़ लेते है, तो हम उसके दुःख-सुख मे दु.खी-सुखी भी होने लगते है। यहा तक कि यदि हमने पैसे के साथ सबध जोड़ लिया और कोई हमारा पैसा मार ले तब भी हम कह उठते है कि हाय, मैं मर गया !

एक मनुष्य का अपनी धर्मपत्नी के साथ झगडा होता था। वे वात-वात मे लडते। उन्होने घर को कलह-क्लेश का अड्डा ही वना रखा था। साधु-सत उसे समझाते, पर वह नही समझता। विधाता के लेख के अनुसार पत्नी चल वसी। पुरुष अकेला रह गया। अव जो कोई सन्त-महापुरुष से वह मिलता तो उसके सामने फिर रो उठता। सन्त ने कहा कि कलह-क्लेश करनेवाली तो चली गयी, अव क्यों दुःखी हो ? वह उत्तर देता अव मैं इसलिए दु.खी हू कि अव मुझसे लड़नेवाला कोई नही। पहले तो इस मनुष्य ने पत्नी के साथ कलह-क्लेश को दुःख का कारण वना लिया और अव वह पत्नी के अभाव से तादात्म्य जोडकर उसके अभाव मे दु खी है।

विचारों से तटस्थता

अक्सर यह अनुभव किया जाता है कि विचार क्या उठते है, कहा उठते है, इस वात का हमे कभी ध्यान ही नही। अज्ञान यही है कि विचार हमारी अज्ञान दशा मे एव न जानने मे उठते रहते है। हम उन विचारो के प्रति सजग नही और हमारे सजग न होने के कारण विचार प्रवलता पकड़ते जाते है और हमें इस वात का पता नही चलता। हमे इस वात का पता नही चल सकता कि अगले क्षण क्या विचार आयेगा। हमे इस वात

का पता चल सकता है कि इस क्षण क्या विचार आ रहा है। जब इस क्षण के एक विचार का पता चल जाता है तब हम उसमे उसी तरह तटस्थता बनाये रख सकते है और विचारो मे लगावरहित हो जा सकते है। इस प्रकार विचारों से उत्पन्न तनाव से हम मुक्त हो सकते है। यह है मूलतः सत्य, जिसका अनुभव कोई और कभी भी कर सकता है।

अगर हम केवल वासना और कामना को काटते रहेगे और जबरदस्ती उसे दबाते रहेगे, तो हमारा काम नही बनेगा। जैसे वृक्ष की टहनिया और पत्ते काट दे तो वे फिर उग आते है, क्योकि वृक्ष की जड पृथ्वी मे है और वह उस वृक्ष को शक्ति देती रहती है जिससे टहनियाँ व पत्ते फिर आ जाते है उसी प्रकार हम कामनाओ और तृष्णाओ को काट देते है परन्तु उनसे मुक्त तब तक नही हो सकते जब तक कि मन में नयी वासना को हम अपने निज उजियारे मे नही ले जाते है। जब हम उन्हें उजियारे में ले जाते है तो वे वासनाए स्पष्ट दिखाई देती हैं, फिर उन वासनाओ के स्पष्ट दीखने के कारण उनका उन्मूलन हो जाता है।

निर्मल मन

जो मनुष्य मन को अपने उजियारे मे ले आता है या उस उच्च सत्य को निहारता रहता है, उस मनुष्य के मन मे उठते विचार विलीन हो जाते है, मन निर्मल हो जाता है और निर्मल मन में जगत निर्मल अर्थात् निर्दोष हो जाता है। ऐसे मनुष्य के लिए सभी परमात्मा के रूप है, सभी एक हैं, बराबर है, ऊंच-नीच की भावना नही अर्थात् अहकार नही। वह तो केवल उज्ज्वल हो जाता है और उसका **मन उजियारा होने पर जग उजियारा हो जाता है।**

卐 卐 卐

मन की चाल

मनुष्य अपने मन को व्यर्थ ही दोष देता है। असल में मन का कोई दोष नहीं है, क्योकि मन को हम जिधर लगायेंगे वह उधर ही लगेगा। मन को काबू में लाने की यह युक्ति है कि मन को मनाया जाये, न कि मन को मना किया जाये। मन को रोकने से मन उपद्रव खड़े करता है। पर द्रष्टाभाव से जब हम उसे देखने लगते है तो वह अपने आप उछलना-कूदना बंद कर शांत हो जाता।

एक राजा ने एक साथ कई अरबी घोड़े खरीदे। उन्हें खूब अच्छी तरह से खिला-पिला कर तगड़ा किया और इस बात की घोषणा कर दी कि जो कोई घुड़सवार इन घोड़ों पर सवार होकर तीस मील के घेरे.मे चक्कर काटकर राजधानी मे पहले वापस आयेगा उसे सिपहसालार बना दिया जायेगा। इसे सुनकर बहुत से घुड़सवार इस आशा में आगे तो आए लेकिन किसी को भी इतनी हिम्मत न होती थी कि उन घोड़ो पर सवारी करे, क्योंकि वे घोड़े इतने उद्दण्ड और राहजोर थे कि किसी के भी काबू में नहीं आते थे। इधर राजा ने भी एक दिन मुकर्रर किया और

सात सवार घोड़े पर सवार होकर निकले। कई सवार घोड़े को एड़ लगाते, घोड़े को भगाते, गिरते-पडते, लहू-लुहान हो थककर चूर हुए आये, आते ही गिर पड़े। उनमे उस समय बात करने की भी शक्ति नही रही। एक घुड़सवार ऐसा भी था जो मन-तुरंग घोड़े पर सवार न होकर घोडे के साथ-साथ चलता रहा। जहा घोडा रुकता था वही वह भी रुक जाता था और जहा वह सवार घोड़े का रुख शात देखता, वही उसकी पीठ पर चढता था। वह समय पर घोडे को हरी-हरी घास भी खिलाता था। धीरे-धीरे उस सवार के साथ घोडा हिलमिल गया। घोडे को निश्चय हो गया कि यह सवार प्रमी है, मेरा मित्र है। अत. घोडा स्वय सवार के अधीन हो गया। जब परीक्षा का दिन आया तो घुड़सवार घोड़े पर बैठा। वह समय पर सध्या होने से पहले ही राजधानी पहुच गया। राजा को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि जब दूसरे सभी सवार लहू-लुहान होकर बेहोश पडे हुए है तब यह कैसे हसता-गाता घोड़े पर सवार होकर सानद आ गया। राजा ने समझ लिया कि घोड़े को काबू करने की युक्ति यह जानता है। मन भी एक प्रकार का घोडा है। शास्त्रो ने मन को भी घोडे की उपमा दी है। अगर हम उनका निरीक्षण करे, उसकी देखभाल करे तो कोई कारण नही कि वह हमारे वश मे न हो जाए। जब हम उसके साथ जबरदस्ती करते है तो वह और भी उद्दण्ड हो जाता है, हमारा कहना नही मानता, हमारी अवज्ञा करता है।

एक वीर साधक ने अपने पाव से रस्सी बाधकर अपने को वृक्ष पर उलटा लटका दिया। दूसरा कोई साधक उसके पास से जब गुजरा तो उसने लटकनेवाले साधक से पूछा, क्यो भाई, यह कौन सी साधना हो रही है? लटकनेवाले साधक ने जवाब दिया,

'मैं मन को सीधा करने की साधना कर रहा हूं।' इस पर दूसरे साधक ने कहा, "अरे मूरख! जिसको तू सीधा करना चाहता है, उसी ने तो तुझे उलटा लटकवा दिया है।"

साधक को मन की चाल समझ में आ गयी। उसने अपनी साधना झट बदल ली और वह मन का उन्मनी भाव चाहने लगा। उसके साथ जबर्दस्ती करनी छोड़ दी।

जबर्दस्ती करने से मन और जबर्दस्त हो जाता है। मन के साथ प्रेम करने से मन भी अपना परम प्रेमी हो जाता है। **मन को देखने से मन में ही मन लय हो जाता है**। इस कारण समझदार सवार की तरह मन का निरीक्षण करने पर मन अधीन हो जाता है अन्यथा मनुष्य ही प्रतिक्षण मन के अधीन होता जाता है। **मन जब शान्त हो तो मन से ही मन को भगवान के चरणों मे लगा देना चाहिये**। इस प्रकार धीरे-धीरे मन शात और भगवान के चरणों मे अपने आप लगता जाता है। अन्त में शान्त और एकाग्र मन की सहायता से साधक अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेता है।

एक बार एक साधु की कढ़ी खाने की बड़ी उत्कट इच्छा हुई। उसने बड़े चाव से कढ़ी बनाई। फिर इतनी खाई कि और खाने की इच्छा न रही। मन मे यह एक सबसे बड़ा गुण भी है कि किसी वस्तु से जब सच्चा विरक्त हो जाता है तो फिर कभी उधर दृष्टि भी नही डालता। अतः **मन के निरोध से पहले वैराग्य और विवेक प्राप्त करे**। यह एक अनुभवसिद्ध बात है कि **मन मारे से नहीं मरता** न निवृत्त करने से निवृत्त होता है किंतु जब आग्रह छोड़ जाता है तो मन आप ही शात, तृप्त एवं निवृत्त हो जाता है।

卐 卐 卐

श्रद्धा या वाच्य विलास!

मेरी दृष्टि मे पत्नी श्रद्धा का दूसरा रूप है। पति के प्रति श्रद्धा है तो पत्नी है। पत्नी मे जितनी श्रद्धा है वह उतने ही दरजे की पत्नी है। पत्नी जो अपने पति मे श्रद्धा रखेगी वह परमेश्वर पर भी अवश्य ही श्रद्धा रखेगी। इस तत्त्व को समझे विना एक व्यक्ति ने किसी महात्मा से कहा कि मेरी पत्नी मेरी धर्म-साधना मे श्रद्धा नही रखती। दूसरे दिन वे ही महात्मा उस व्यक्ति के घर आ रहे थे कि द्वार पर उसकी पत्नी उन्हें मिल गयी। महात्मा ने उससे पूछा कि क्या सेठजी घर पर ही है? पत्नी ने उत्तर दिया कि नही, वे तो सट्टे वाजार मे गये हुए है।

यह वात उसके पति ने सुन ली, जो कि उस समय घर मे ही था। वह खिड़की मे से सिर वाहर निकालकर कहने लगा कि महाराज, मै घर पर ही हू। मै उस समय ध्यान में बैठा हुआ था। मेरी पत्नी ने आपको गलत कह दिया है कि मै घर पर नहीं हूं।

पत्नी वोली—आप सच वताइये कि आप सट्टा वाजार में लिया-

दिया का ध्यान नही कर रहे थे ?

यह सुनकर पति को बड़ी लज्जा आयी क्योंकि जाहिर मे तो वे हरि-ध्यान में बैठे थे, किन्तु ध्यान कर रहे थे मट्ठे के लेने-देने का। उस समय पति महोदय को पता चला कि उनकी पत्नी अध्यात्म-विद्या में बहुत आगे वढी हुई है, मेरा तो केवल श्रद्धा का ढोंग ही था।

श्रद्धा हृदय की वस्तु

सच्ची श्रद्धा कुछ और होती है। वह मन मे होती है, कही नही जाती न प्रकट ही की जा सकती है, क्योंकि श्रद्धा मनुष्य के हृदय की वस्तु है। यह दिखावे की चीज कभी नही होती।

श्रद्धा, प्रेम और विश्वास—ये तीनो अन्तर की चीजें है। मानव जब किसी के प्रति कोई अलौकिक कार्य कर वैठता है तो उससे अन्यों को यह प्रतीत हो जाता है कि अमुक व्यक्ति उस पर श्रद्धा रखता है। भाव वाहर की वस्तु नही हृदय की वस्तु है। यह कभी शव्दो मे वांधा नही जा सकता। भाव जवान पर शब्दों मे आ जाता है तो फिर भाव नही रह जाता बल्कि बुद्धि का प्रदर्शन एवं वाच्य विलास हो जाता है।

卐 卐 卐

आत्मीय भावना

दो हृदयों के मिलाप से पृथ्वी पर स्वर्ग उतर आता है। दो शरीर होते हुए भी मन की एकता जहाँ होती है उसी गृहस्थ-जीवन में सुख-समृद्धि का निवास और लोक-परलोक मे उत्थान होता है। जहाँ विचार भिन्न-भिन्न है, वृत्ति मे स्वार्थ भरा हुआ है, वहाँ हृदयों का मिलाप कदापि नही हो सकता और न उनका उत्थान ही हो सकता है।

पति वह है जो पत्नी को पतित होने से बचाये। उसकी हर तरह से रक्षा करे और पत्नी वह है जो पति को पतन के गर्त से बचाये। परस्पर एक दूसरे की अनुकूलता एव एक दूसरे के जीवन को सुखी बनाये वही सच्चे पति-पत्नी हुआ करते है। जब आपस मे एक दूसरे के सुख का ध्यान होता है तो अपने सुख का परित्याग हो जाता है, अपने सुख का दूसरे के सुख मे समाहार हो जाता है। तभी गृहस्थी मे सुख का अनुभव होता है। पत्नी अपने सुख और इच्छा में पति की इच्छा को मिला दे और पति भी अपने सुख को अपनी पत्नी की इच्छा और सुख मे मिला दे तो उस गृहस्थ जीवन में स्वर्ग का-सा वातावरण अपने आप बन जाता है।

शान्ति का सन्देश

संसार को भारत देश शान्ति का सन्देश देता है। भारत शान्ति-प्रिय देश है। यह अपनी शान्ति भंग होने देना नही चाहता। यह दूसरे की शान्ति भी भंग नही करना चाहता। भारत स्वयं भी जीना चाहता है और दूसरों को भी जीने देना चाहता है। कबूतर को शान्ति का दूत माना जाता है। एक वार यदि यह किसी जगह को देख लेगा तो आकाश मार्ग से सीधे वहाँ पहुँच जायेगा। इसकी दृष्टि बड़ी तेज होती है। एक वार देखे हुए स्थान को यह कभी भूलता नही। यही कारण है कि पूर्व काल में लिखित सन्देश एक जगह से दूसरी जगह भेजने के लिए कपोत का उपयोग हुआ करता था।

'कब-उतर !'– कबूतर का अर्थ है। कबूतर के रूप मे भगवान कव उतर आये, इसलिए हर मनुष्य को चाहिए कि प्राणी-मात्र के अन्दर भगवान के दर्शन करे। **किसी के हृदय को ठेस नहीं पहुंचाना है, क्योंकि हर मनुष्य के हृदय मे भगवान का निवास है।**

आत्मप्रकाश मे आया हुआ मन

शान्ति मनुष्य के अन्दर की वस्तु है, वाहर की नही। भौतिक पदार्थो से मिली हुई शान्ति तो क्षणिक है। वाद में मनुष्य फिर अशान्त हो उठता है। शान्ति की कद्र वही जानता है जिसने शान्त होना सीखा है। जो स्वयं अशान्त है, वह दूसरो को भी अशान्त करता रहता है। वह शान्ति की कद्र नही जानता।

संतोष मे शान्ति है, वैराग्य में विवेक है। जिन्होंने शान्ति का अनुभव कर लिया है, उन्हे कोई अशान्त नही कर सकता, क्योकि शान्ति हृदय की वस्तु है। आत्मप्रकाश में आया हुआ मन सदा

शान्त रहता है।

शान्ति की वात प्रायः सभी देश करते है, किंतु वातें करने से शान्ति प्राप्त नही होती। शान्ति होती है दूसरों को अपने जैसा समझने मे; एक दूसरे के विचारों को सम्मान देने मे। अगर हम किसी को हलका समझते हैं तो 'हलका' शव्द उलट कर वही कलह का कारण वन जाता है। शान्ति चाहनेवाला आत्मीय भावना मे सव को देखता है और इसी नाते सवके साथ प्रेम का व्यवहार करता है। जहाँ प्रेम है वहाँ द्वेष नही। जहाँ द्वेप नही, वही शान्ति विराजती है। **राग उतना हानिकारक नहीं जितना द्वेष होता है।** अन्तर्यामी की भावना पर आश्रित हुआ राग भी शान्ति का कारण वन जाता है।



मन - मन्दिर

जैसे राष्ट्रध्वज देश का प्रतीक है, इसी प्रकार एकाग्रता के लिए मूर्ति ईश्वर की प्रतीक है। हरा, केसरिया और सफेद इन तीनों रंगों के कपड़ो को मिलाकर तिरगा राष्ट्रध्वज बनाया गया है। जब तीनों रगों के कपड़े को राष्ट्रध्वज के रूप मे सी दिया जाता है तब उस झडे का अपमान अपराध बन जाता है। किन्तु मात्र कपड़े के रूप में अगर उस पर पाव भी पड़ गया तो कोई अपराध नही। जब कपड़ा झडे के रूप मे सिल जाता है, तो वह देश का प्रतीक हो जाता है। उसका मान-मर्दन देश के मान-मर्दन के समान है।

इसी प्रकार जब पत्थर की मूर्ति बनायी जाती है तो मूर्ति को बनानेवाला शिल्पकार जूते समेत उसकी छाती पर बैठकर छैनी-हथौड़े से उसे काट-काट कर बनाता है किन्तु वह मूर्ति जब पूर्णतया तैयार हो जाती है और उसकी मदिर में विधिपूर्वक प्राण-प्रतिष्ठा हो जाती है, तो सबके पूजने योग्य हो जाती है। फिर तो कोई जूते समेत मदिर के अन्दर भी नहीं जा पाता।

मन मे मूर्ति

मंदिर उसे कहते हैं जो मन को अन्दर ले जाने का साधन हो। जिस मन्दिर में जाते ही मन स्थिर हो वही सच्चा मन्दिर है। मन्दिरो मे सुन्दर-से-सुन्दर मूर्तियां लाकर रखी जाती है। उसका कारण यही है कि मूर्ति इतनी आकर्षक हो कि उसे देखते ही मनुष्य का मन समाहित होकर मूर्तिमान हो जाय, ठहर जाय।

जिस प्रकार कूप को देखकर जल का आभास होता है, उसी प्रकार जब हम मन्दिर को देखते है तो हमें भगवान की याद आ जाती है। वैसे भगवान तो सर्वव्यापक है, किन्तु किसी एक खास पवित्र स्थान मे भगवान के मूर्तिमान दर्शन करना मन के अन्दर मूर्ति को स्थिर करना ही है। मूर्ति जितनी मन के अन्दर स्थित होगी, उतना ही मन समाहित होगा। इसके विपरीत, मूर्ति मनुष्य के मन के अन्दर जितनी अस्थिर होगी उतना ही उसका मन विक्षिप्त होगा। मन के अन्दर अधकार का एक आवरण होता है, जिससे कि हमारे मन के अदर मूर्ति का ध्यान करते समय अधकार-सा छा जाता है और फिर हमारे मन में विक्षेप के कारण मूर्ति हिलती हुई दिखायी देती है। कभी ध्यान में आ जाती है और कभी चली जाती है।

विस्तार से एकाग्रता की ओर

मंदिरो के शिखर बहुत ऊंचे बनाये जाते हैं जिसका तात्पर्य यह होता है कि ऊंचे मंदिर देखकर मनुष्य के विचार भी ऊंचे हों। मंदिर नीचे से चौड़े और ऊपर से नुकीले होते हैं। इसका तात्पर्य यह होता है कि विस्तार से एकाग्रता की ओर आना ही द्वैत से अद्वैत की ओर आना है।

卐 卐 卐

मन की धूल

वहुत दिनों से वद पड़े मकान को जव हम झाडने जाते है तो उसमे गर्दगुवार और भी तेजी के साथ उड़ने लगता है। वह नाक कान मे भी चला जाता है। यहाँ तक कि झाड़ने वाला भी कोफ्त हो कर कहने लगता है कि इससे तो मकान का न झाडना ही अच्छा था। इसी प्रकार जब हम अपने मन के कमरे की धूल का अर्थात **विचारों का शोधन करने जाते हैं, तो उस समय और भी गन्दे-गन्दे खयाल आने शुरू हो जाते है** जो पहले कभी नही आते थे। हम चिन्ता मे पड जाते है कि ये गदे विचार जो पहले कभी नही आये अभी क्यो आ रहे है? जिस तरह कमरे को झाड़ने से धूल उडती है, उसी तरह मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करते समय ऐसे-वैसे विचार भी वेग पकड जाते है। कुछ देर निरीक्षण करने पर वह वेग उसी प्रकार स्वय ठडा पड़ जाता है जिस प्रकार उठती हुई धूल अपने आप वैठ जाती है।

विवेक आवश्यक

मन एक तो स्वयं शान्त और एकाग्र हो रहा होता है और

दूसरे उसे करने का प्रयत्न करना पड़ता है। जव यह स्वयं शान्त होता है, उस समय तो स्वयं ही एकाग्रता को प्राप्त हो जाता है किन्तु जव व्यग्र और विक्षिप्त होता है उस समय इसे शान्त करने की आवश्यकता पडती है। उस समय अभ्यासी विवेक से अशुभ विचारों का त्याग और समाधान करके ही मन को शान्त होने का मौका प्रदान करता है। उस समय पहले-पहल बुरे विचार वहुत आते हैं फिर धीरे-धीरे मन स्वयं समाहित और शान्त होता चला जाता है। मन की वुरे विचाररूपी धूल को विवेक की वायु साफ कर देती है।



समाहित मन

जिस प्रकार एक व्यापारी दूसरे व्यापारी से सलाह-मशविरा करके अपने विचारों की समीक्षा करता है उसी प्रकार साधक को भी यह आवश्यक है कि वह अपनी साधना को परखने के लिए अन्य साधकों से चर्चा करे। इससे अपने अन्तर की स्थिति का ज्ञान हो जाता है।

वास्तव में मन की समाहिता से ही तात्पर्य है। उसी समाहिता में सब कुछ होगा। मन की समाहिता मात्र आंख मूद लेना ही नही है। आख मूद लेने से आख की समाहिता होगी जो कि मन की समाहिता मे सहायक तो हो सकती है किन्तु मात्र वही उपाय मन को समाहित करने का नही है। विचारो की उथल-पुथल—मन मे उठते सकल्प-विकल्प इतने विस्तृत हो जाते है कि उनमे निज का तो कही पता ही नहीं रह जाता है। इस स्थिति को मनुष्य समझता भी है। यदि इसकी समर्थ समझ मनुष्य को न होती तो वह ऐसा कभी नही कह सकता कि 'आज मेरा मन दुखी है' या 'आज मेरा मन शान्त है' या 'आज मेरे मन मे सुख की लहरियां है'।

जरूर कोई है

यह जो बातें है, इस बात को प्रमाणित करती है कि **मन की वृत्ति को देखनेवाला जरूर कोई अन्य है, जिसे मन की इन तमाम स्थितियों का ज्ञान है** तथा जो मन में उठते प्रत्येक संकल्प-विकल्प को जान रहा है। जैसे एक व्यक्ति याद आया, फिर उसकी दूकान याद आयी, उसमें बिकने वाले सामान की याद आई, इसके बाद याद आया कि उसका सामान अमेरिका का बना होता है, फिर अमेरिका स्मरण मे आ गया, अमरीका का स्मरण होने पर वहा के रहवासियो का ध्यान हुआ—इस प्रकार यह जो ताता है, इससे तादात्म्यवाला मनुष्य इतना बेहोश हो जाता है कि उसे वर्तमान का होश ही नहीं रह जाता है। यहीं पर यदि प्राणी सजग हो जाए और उन विचारों से स्वय को बद्ध न करे और केवल उन्हे अलग किनारे पर खड़े मनुष्य की तरह देखना शुरु कर दे तो वही विचार जो कि उसी की सत्ता से प्रबल थे, एकदम दुर्बल पड जायेगे और मन शान्तिलाभ प्राप्त करेगा।

असल मे मन को आनन्द चाहिए, ऐसा भी आनन्द नहीं जो क्षणिक हो। इसे जब तक आनन्द की प्राप्ति नही होगी, यह कभी भी शान्त नही होगा। सच्चा आनन्द आत्मा में है, जो कि सब के पास है और जिसके लिए कही आना-जाना नही, केवल मन के सब प्रकार के विचारो को शान्त करना है।

भागदौड़ मे विक्षिप्त

कोई महापुरुष हमारे घर आए, हम अपने परिवार समेत घर मे बैठे रहे और उन्हे बैठने तक को न कहे, तो वह वहा से लौट

जायेंगे। इसी प्रकार मन में प्रभु तो है ही, वल्कि वह अपलक हमारी ओर झाक रहा है, किन्तु हमें ही उससे मिलने की चाह नही है। **प्रभु हमारे अन्दर झांक रहा है और हम दुनिया की ओर झांक रहे हैं।** भाग-दौड़ से मन विक्षिप्त है तथा आनन्द से रहित है।

मन की कालातीत अवस्था जो है, वही अनुभूति की अवस्था है। जव वह प्राप्त हो जाती है, तो मन एकदम शान्त हो जाता है। शान्त मन मे सुख का वास है।

मन को ध्यान मे लगाने से जो लोग एकाग्रता चाहते है, उनके लिए ब्रह्मलीन श्री प्रेमपुरी जी का यह उपदेश लाभदायक है कि जो करो ध्यान से करो। करने मे चाहे चलना ही क्यों न हो, चलो भी तो ध्यानपूर्वक। **यदि मनुष्य ध्यानपूर्वक सैर भी करता है, तो वही सैर उसके लिए ध्यानयोग हो जायेगा।** हम जो भी करते हैं, उसमें जब ध्यान नही होता है, तो वह करना निरर्थक हो जाता है। जैसे हम कर तो रहे है भोजन और सोच रहे है भूत की स्थिति अथवा भविष्य की योजना। यह जो विना समय का चिन्तन है, इससे हमारा वर्तमान मे जो भोजन का आनन्द है, प्राप्त नही हो सकता है। मनुष्य को वर्तमान मे जीना चाहिए, क्योंकि ईश्वर वर्तमान मे वर्तमान है और वह वर्तमान क्षणिक है—रुकनेवाला नही, उस न रुकनेवाले वर्तमान को यदि हम सभाल लेते है, तो उससे हमारा भविष्य भी उज्ज्वल हो जाता है और भूत भी। वर्तमान तो खोते चले जा रहे है और भविष्य को उज्ज्वल देखना चाहते है—यह सभव कैसे है?

मन को मारना भी नही है और रोकना भी नही है। उसे तो

केवल ध्यानपूर्वक देखना है। ध्यानपूर्वक देखा जानेवाला मन कभी भी व्यक्ति को गिरने नही देगा, वल्कि वह तो उसकी उन्नति में सहायक हो जायगा।

मन के साथ यदि कोई लड़ने लगेगा, तो उसकी कभी भी विजय नहीं होगी। इससे तो समझौता ही ठीक रहता है। इसे चैलेज देना स्वय को हानि मे ही डालना है।

प्रभु का प्रसाद

मन जितनी गहराई मे उतरता जाता है, उतना ही मनुष्य विचारशून्य होता है। विचारशून्य मन में से प्रमाद निकल जाता है और प्रमाद के निकलते ही प्रभु का जो प्रसाद स्वातंत्र्य एवं मुदिता है वह सदा-सदा के लिए प्राप्त हो जाती है। प्रसाद मिलता है, वह मिलाया नही जाता। वह जव भी मिलेगा अन्दर ही मिलेगा तथा वह तभी मिलेगा जव कि मन विचारो से शून्य होगा अथवा हम द्रष्टा वनकर उसकी हर गति को देखेगे और उससे तादात्म्य नही जोड़ेगे। ऐसी ही स्थिति मे मनुष्य आनन्द की अनुभूति कर सकेगा। एक वात और है। जव तक मानव इस अनुभूति की प्राप्ति नही कर लेगा उसे शान्ति भी नही मिलेगी जो कि उसे चाहिए ही, क्योकि शान्ति का परम इच्छुक जीव जन्म-जन्मान्तरो से इसी की तलाश मे भटक रहा है। जैसे ही यह प्राप्त हो जायेगा मनुष्य भी शान्त हो जायेगा।

卐 卐 卐

शान्त मन में आत्मानन्द

वम्बई से लोनावला के बीच मे जो हाईवे है उसके दोनो ओर समुद्र के सारे जल को क्यारियों मे रोक कर और धूप में सुखाकर हजारों टन नमक बना दिया जाता है।

जो लोग नमक बनाते है, वे कोई पानी मे नमक डालकर बनाते नही। वे तो समुद्र के जल में जो नमक है, उसे ही निकालते हैं। इसी प्रकार सुख या आनन्द हमारे अन्दर डालना नही पड़ता, हमारे भीतर जो आनन्द है उसे ही निकाल हमे उसकी अनुभूति करनी होती है।

समुद्र के जल में मिश्रित नमक खाने के काम मे नही आता है, किंतु वही नमक जब धूप लगने पर पानी से अलग हो साफ हो जाता है तो सब उसे साग-सब्जी मे डालते है। इसी प्रकार जब हमारे आत्माराम ससारी कर्मो के व्यवहार मे तल्लीन रहते है, तब अपने आप को भूल जाते है। किन्तु हम अपने मन को जो कि आत्मज्योति के वाहर आने का द्वार है, यदि हम निर्विचार स्थिति प्राप्त कर बन्द कर देते है, तो फिर वही आत्मप्रकाश जो इन्द्रियो द्वारा निकलकर वाहर के विषयो को प्रकाशित करता था, अपने आपको प्रकाशित करने लगता है।

आत्मानन्द ही शेष

नमक जिस प्रकार समुद्री जल से अलग कर देने पर भोजन के काम मे आता है इसी प्रकार अपने आप को जब मन से अलग कर दिया जाता है, तो निजानन्द की अनुभूति होती है, क्योकि उस समय सामने कोई विषय तो रहता नही। विषय की अहंकृति एवं विषयीपन भी नहीं रहता है। **जहां विषय-विषयी भाव नहीं रह जाता वहां आत्मानन्द ही शेष रह जाता है।**

मन को निर्विचार करने के लिए हमारा मन के प्रति तटस्थ होना आवश्यक है **और जहां कोई विचार नही रहता वहां आत्माराम ही रह जाता है।** मन आत्माराम मे लग जाता है। मन या बुद्धि के सामने कोई विषय नही रहता। उस समय मन और बुद्धि अन्तर्मुख हो आत्मानन्द मे निमग्न हो जाते है। अतः **सारे आनन्द अपने ही भीतर है।** आनन्द विषयो मे कदापि नही है। हां, इच्छित विषय प्राप्त हो मन को शान्त करते है उस शान्त मन मे आत्मानन्द की झलक आ जाती है। मानव अज्ञान के कारण उसे निजानन्द न मान विषयानन्द मानता है।

जिस प्रकार समुद्र के नमकीन पानी को धूप मे सुखाकर उसमें व्याप्त नमक को अलग कर लेते है उसी प्रकार एकाग्र मन व्यापक आत्मा के आनन्द का अपने मे अनुभव कर लेता है।



खण्ड आठ

आत्मज्योति

• अगर आप ईश्वर को देखना चाहते हैं
तो आपको ईश्वर बन जाना होगा •

—बर्नार्ड शॉ

रज्जु-सर्प भ्रांति

रज्जु में सर्प की भ्रान्ति अज्ञान के कारण ही होती है। भय से त्रस्त प्राणी दुखी हो जाता है। यही क्यों, **सभी दुःख अज्ञानता के ही कारण होते हैं।** अज्ञान है अतःकरण मे इस कारण ज्ञान भी अतःकरण मे ही होगा। ज्ञान का अभाव ही तो अज्ञान है। अतः **अज्ञान जहाँ होगा ज्ञान भी वहीं होगा।** जिस प्रकार अंधेरे मे सर्प की तरह दीखनेवाली रस्सी से साप का भय हो जाने पर मनुष्य डर जाता है, भ्रमीभूत हो जाने के कारण बचने की कोशिश करता हुआ अंधेरे मे दीवार से टकरा कर चोट भी खा लेता है, बिलकुल यही परिस्थिति ससारियो की भी है। **वे अज्ञानता के कारण** अपने सुख स्वरूप को न जानकर **दुःखी होते रहते हैं।**

भय की निवृत्ति ज्ञान से

रज्जु में सर्प का भ्रम दो कारणों को लेकर होता है। एक तो अंधकार और दूसरे, कोई भी सदृश वस्तु जो सर्प की आकृति का साम्य रखती हुई वहाँ पड़ी हो। अतःकरण मे पूर्व संस्कारो

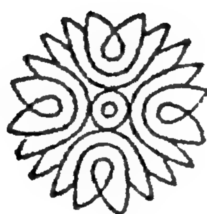
के कारण रज्जु मे सर्प का भ्रम उत्पन्न हो जाता है। भ्रम की निवृत्ति रज्जु के ज्ञान से ही होती है–हाथ जोड़ने से नही, पूजा-अर्चना करने से भी नही। पर जव मनुष्य टार्च ऑन कर इस वात का निश्चय कर लेता है कि यह सर्प नही रस्सी है तो भ्रम और डर लेशमात्र भी नही रह जाता। तव फिर उस आदमी को डरने के लिए कोई सलाह दे या आदेश दे तो क्या वह डरेगा ? नही। जव उसने सही ज्ञान द्वारा भ्रम की निवृत्ति कर ली, तो भ्रम से उद्भूत दुःख लेशमात्र भी नही रह जाता।

इसी प्रकार मनुष्य को जव आत्मज्ञान हो जाता है तो माया-मय जगत की भ्राति निवृत्त हो जाती है, जिससे मनुष्य मे लेश-मात्र भी दुःख नही रह जाता। **आत्मज्ञान जीव के अन्दर अलुप्त प्रकाश** है, जिसका जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति किसी भी अवस्था मे लोप नही होता। यह वह ज्ञान है जिसके जानने से सव कुछ जाना जाता है, जिसके जानने पर और कुछ जानना वाकी नही रह जाता।

भ्रमाधिष्ठान आत्मा की प्रतीति

जिस ज्ञान मे हम ससार के सभी पदार्थो को जान जाते है, जिसमे देखते-सुनते-बोलते- चलते है, वह है निज का ज्ञान, जिसका कभी अभाव नही हुआ और न होगा ही। किन्तु हमें माया के वश मे, ब्रह्म-रूपी अधिष्ठान मे माया के कारण भ्रम से दृश्य जगत प्रतीत होता है। भ्रमाधिष्ठान आत्मा की प्रतीति हो जाने पर भ्राति नही रह पाती। कभी-कभी सोने के आभूषणो के रूप मे आ जाने पर वैविध्य की भ्राति हो जाती है और फिर हम उसे सोना न कह कर हार, जजीर आदि नामो से पुकारने लगते है।

पर आभूषणों में सोना उसी तरह विद्यमान है जिस तरह कि उपादान कारण अपने स्वरूपभूत कार्यो मे विद्यमान रहता है। हमारी दृष्टि आभूषण की डिजाइन पर है, आभूषण के उपादान पर नही इस कारण हमें सोना नजर नही आता। सोना तो हमें तब नजर आयेगा जब कि हमारी दृष्टि स्वर्णाभूषण की डिजाइन से ऊपर उठेगी। हम तत्त्व को जानने की चेष्टा करेगे। 'रज्जु' के अज्ञान व भ्रम से ही अनिर्वचनीय 'सर्प' की उत्पत्ति होती है, इसी तरह आत्मा के अज्ञान से ही अनिर्वचनीय जगत और उसके दुःख की उत्पति होती है। जब जगत की जड़ता मालूम हो जाती है तो जगत की भ्राति निवृत्त हो जाती है। उस समय एक ब्रह्म ही दृष्टि में रह जाता है।



परम पुरुष का मौन व्याख्यान

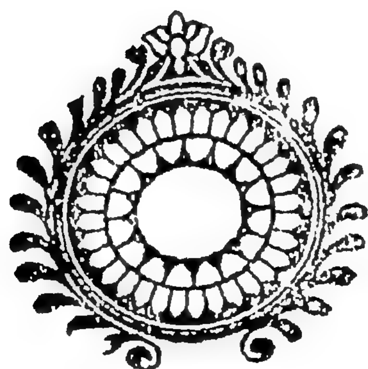
एक महात्मा आध्यात्मिक प्रवचन दे रहे थे। उसमें प्रसंगवश उन्होंने कहा कि प्रत्येक मनुष्य के शरीर में एक ऐसा पुरुष छिपा हुआ रहता है, जिसका कि कोई विशेषण नहीं हो सकता। वही उपाधिशून्य पुरुष शरीर की इद्रियों में से बाहर आता है। उसी की वजह से सारी जानकारिया भी हासिल होती है। जिन्होंने यह बात आज तक नही देखी वे अब देख ले। यह कह कर वे महात्मा एकदम मौन हो गये।

श्रोता प्रतीक्षा करते ही रहे कि महात्मा कुछ और कहेंगे पर वे शात मौन व्याख्यान द्वारा लोगों को यह सकेत कर रहे थे कि जिस तरह मै लोगो को प्रवचन करते-करते मौन हो गया हूं, आप भी पूर्ण रूप से मौन हो जाइये। मौन हो उस परम पुरुष को पहचानो, जो इस शरीर की खिड़कियों से झांक रहा है।

अध्यात्म उपदेश का सच्चा मार्ग

वास्तव में, अध्यात्म-उपदेश का सच्चा मार्ग मौन है। मौन की दशा मे, जितनी वास्तविक आतरिक वृत्ति होती है उतनी अन्य

स्थितियों में नही होती । **मौन रहना पाण्डित्य की अंतिम कोटि है।** यह आत्मचिंतन के समय ही होती है, अन्यथा नही होती । **जिसमे सारे इंद्रियों के व्यापार भी मौन हो जाये, वास्तव मे वही मौन की स्थिति है** । यदि ऊपर से चुप रहकर भीतर से गुडगुड़ाते रहे, तो फिर वह सच्चा मौन नही है। यह मौन तो वोलने से भी बदतर है। अतः मौन के समय सव ओर से सर्वत्र ही मौन हो जाना चाहिए, तभी सच्चा मौन हो सकता है। इद्रियों के भी वाहर-भीतर के व्यापार जहां के तहा रुक जाने चाहिये। इसी के साथ मन भी शान्त हो। तभी समझो कि मौन हुआ। वास्तव मे सच्चा मौन ही प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आत्मा का साक्षात्कार कराता है अतः मौन ही आत्मा का सच्चा व्याख्यान है।



स्वप्रकाश आत्मा

आग की छोटी और बड़ी चिनगारी स्वरूपतः आग ही है, क्योंकि दोनो तत्वतः आग ही है अत. एक है। यही कारण है कि एक छोटी सी चिनगारी से अग्नि प्रकट होकर उससे जंगल-के-जगल, शहर-के-शहर जल जाते हैं। बाँस की पारस्परिक रगड़ से निकलनेवाली चिनगारिया महावनो को दग्ध कर देती है। सिगरेट की एक चिनगारी भयकर रूप धारण कर लेती है एव गोदाम के गोदाम भस्म कर डालती है, अतः चिनगारी भी उतनी महत्त्वपूर्ण है जितनी कि 'भयकर आग'। आग का निजीपन है उष्णता, प्रकाश और श्वेत भास्वर रंग। यह उससे कभी भिन्न नही किया जा सकता। ऐसे ही आत्मा मे सत-चित और आनन्द उसके निजी स्वरूप है।

प्राप्त की प्राप्ति का साधन

चिनगारी को जब अनुकूल हवा और सूखी कोमल लकड़ी मिलती है, तो वह विशाल अग का रूप धारण कर लेती है। इसी प्रकार जिस साधक को आत्मप्राप्ति के साधन के अनुकूल

अन्य साधन प्राप्त हो जाते है, उसे तत्काल आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। क्योकि यह साक्षात्कार कही से लाना नही पड़ता, न उसके लिए कही जाने की ही आवश्यकता होती है। वह तो अपने मे ही सदा नित्य-निरतर अविरल भाव से अलुप्त, प्रकाश की तरह जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओ का द्रष्टा है। वही है आत्मा, जो कि सर्वदा प्राप्त है, एवं उसी का साक्षात्कार होता है। लेकिन चूकि हमें आत्मा के अप्राप्त होने की भ्राति हो गई है, अतः उस भ्राति का निवारण करने के लिए नित्य प्रति प्राप्त की प्राप्ति का साधन करना आवश्यक हो जाता है।

जिस प्रकार पास मे ही कही रखी हुई चीज को यदि भूले हुए मनुष्य को वता दिया जाये कि तेरी यह चीज इस जगह रखी हुई है तो वह कहने लग जाता है कि मै अपनी खोयी हुई चीज पा गया इसी प्रकार नित्यप्राप्त आत्मा को भी जव साधक जान जाता है तो वह व्यवहार मात्र के लिए कहने लग जाता है कि आत्मा मिल गयी। वास्तव मे आत्मा को पाना तो उसको जानना मात्र है। अन्य कुछ नही।



ज्ञानस्वरूप आत्मा

काष्ठ मे छिपी हुई अग्नि प्रज्वलित होने पर ही प्रकट होती है। इसी प्रकार शरीर में रहनेवाली आत्मज्योति का प्रकाश भी ज्ञान से ही होता है। लकड़ी मे आग है, किन्तु वह प्रकट तभी होती है जब उसका विधिपूर्वक घर्षण किया जाता है। यज्ञ में काठ की अरनियों को मथकर ही अग्नि निकाली जाती है। इसी प्रकार जब मनुष्य ज्ञानी होकर सुलझ जाता है, तो उसकी सभी उलझनें समाप्त हो जाती हैं क्योंकि ज्ञान हमारा निजी स्वरूप है।

स्वात्मानुभव

हम अपने जिस स्वयंप्रकाश निजत्व से रूप-अरूप, कटु-मधुर, कर्णप्रिय और कर्णकटु शब्द, सुमसृण और कठोर स्पर्श, सुगन्ध तथा दुर्गन्ध को जान पाते हैं उसका नाम ही ज्ञान है। कोई दार्शनिक इस ज्ञान को सविषयक एवं आत्मा का विशेष गुण मानते हैं। पर वास्तव में यह ऐसा नहीं है। यह तो स्वयं-प्रकाश-स्वरूप स्थित स्वयं है। अनन्त आनन्द इसी मे बंधे हुए हे। सभी ज्ञानेन्द्रियां अपने-अपने विषय बुद्धि को लाकर देती है। तभी बुद्धि

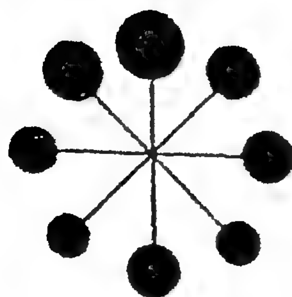
में विषय का स्वरूप प्रतिविम्वित होता है। आत्मा के चैतन्य रूप अपनपे का उस पर अनुग्रह हो जाता है। उसी समय वह स्वयप्रकाशी ज्ञान-स्वरूप-आत्मा से प्रकाशित होता है। इसी का नाम विषयानुभव है। पर जब बुद्धि मे विषय नही रहते है तो बुद्धि के माध्यम से अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को ही आप प्रकाशित करता है। इसी का नाम स्वात्मानुभव है। यह बुद्धि के माध्यम से अपने आप अपना अनुभव होता है। यही अतिम आत्मानुभव है।

मनुष्य के अदर बुद्धि मे ज्ञान तो नित्य निरतर वना रहता है। इसका कभी भी अभाव नही होता। ज्ञान अपने से भिन्न कोई वस्तु नही। यही अपना अपनपा है, जो कि अपने से कभी भिन्न नहीं होता। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों ही अवस्थाओ मे समान रूप से विराजमान रहता है। जाग्रत में इसी से इद्रियो द्वारा वाह्य पदार्थो का निरीक्षण होता रहता है। स्वप्न-अवस्था में हम इसी ज्ञान के अंतर्गत एव इसी के वनाये हुए स्वप्न संसार को देखते है। स्वप्न मे स्वप्न के पदार्थो के रचयिता भी हम ही हैं, अन्य कोई नही एवं दृष्टा भी हम ही स्वय है। किन्तु इस वात का ज्ञान हमे स्वप्न मे नही रहता कि हम ही इस सृष्टि के कर्ता एव द्रष्टा है। जाग्रत के समान स्वप्न में भी हम अपने आपको परिच्छिन्न (एकदेशी) एवं दु.खी-सुखी मानने लगते है। इसी अज्ञान के अतर्गत रहते-रहते सुपुप्ति रूपी प्रगाढ निद्रा मे भी हम चले जाते है। वहां अज्ञान पूर्वक आत्माद्वैत या एकीभाव का आनन्द लेते है। वहा पर हमारी अति अंतर्मुखी निद्रा वृत्ति होती है, तभी वाह्याभ्यन्तर को भूल, आनन्दमय आत्मा के आनन्द मे निग्न हो जाते है। वहा पर कुछ न प्रकाशने पर भी हम ही प्रकाशित है जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओ का प्रेरक, प्रकाशक

स्वय ही प्रकाश है। वह हमारा निजी ज्ञान ही है। हम उसी के प्रकाश मे एव उसी के रूप मे इंद्रियो द्वारा उत्पन्न किये हुए इंद्रियो के भिन्न-भिन्न विषयों का अनुभव करते है।

ज्ञातापन भी उसी के अधीन

ज्ञान सदा प्रकाशमान रहनेवाले सूर्य के समान अलुप्त प्रकाश है वह ज्ञान सब को प्रकाशता है, पर ज्ञान को कोई प्रकाशित नहीं करता, वह तो स्वय ही प्रकाश है। **वह स्वयं कुछ नहीं करता किन्तु बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुए पदार्थों पर उसकी छाप खुद ही पड़ जाती है।** यह बुद्धि प्रतिबिम्बित पदार्थों पर अपने अनुभव की छाप अवश्य लगा देती है। तभी वह चीज हमने जान ली, ऐसा अनुभव होता है। अतः हमारा ज्ञातापन भी हमारे उसी ज्ञान के अधीन है जो कि हमारा अपना आपा है। उसे जान लेने के पश्चात कुछ भी बाकी नही रहता।



मनुष्य की शक्ति और आत्मज्योति

जिस प्रकार इस शरीर मे मनुष्य को उसकी शक्ति दीखती नही किन्तु वह उस के अनुभव और उपयोग में अवश्य आती है उसी प्रकार आत्म-ज्योति दीखती नही, वरन देखती है। मनुष्य नाव को धक्का लगाता है या उसे खीचता है तो उसके धक्का लगाने या खीचने से नाव नदी के इस पार से उस पार आती-जाती है, जिससे हम अनुमान करते है कि मनुष्य की शक्ति ने यह काम किया। वैसे ही अगर शक्ति को दूरवीन लगाकर या शीशा लगाकर देखना चाहे तो वह नही दीखेगी। चूंकि शक्ति से धक्का लगता है और शक्ति से मनुष्य खीचता है तो इससे हम शक्ति का अनुमान करते है।

आत्मा के ही कारण

इसी प्रकार हमारा **देखना, सुनना, बोलना, चखना, चलना और फिरना यह सब आत्मा के ही कारण हो रहा है।** हम आत्मा की सत्ता से देखते-सुनते, बोलते और समझते है कि आंखे देख रही हैं पाव चल रहे है, जिह्वा चख रही है, हाथ पकड़ रहे है। इन कार्यों के करने मे अगर प्रेरक शक्ति आत्मा न हो तो कान

सुन नही सकते, आखे देख नही सकती, पांव चल नही सकते, जिह्वा चख नही सकती और हाथ पकड़ नही सकते। जिस प्रकार मधु के छत्ते मे रानी मधुमक्खी के साथ सभी मधु-मक्खिया आती-जाती है इसी प्रकार आत्मा के साथ ही इंद्रियां, प्राण और सूक्ष्म तत्त्व आते-जाते है।

किसी गृहस्थ की माता का देहान्त हो जाने पर परदेश से उसका बडा भाई आया। उस समय छोटा भाई बड़े भाई से कहने लगा कि "माताजी तो चल बसी"। यहा माताजी का शव तो सामने पड़ा है और वह कहता है कि "माताजी चल बसी।" तो यहा ऐसा कौन सा तत्त्व था जो माताजी कहलाता था जिसके चले जाने से वह माताजी का शरीर रहते हुए भी 'माताजी चल बसी,' ऐसा कहता है! यहां विचार कर देखा जाये तो वह थी उसकी जीवात्मा, जिसके निकल जाने के कारण माताजी का शरीर, आंखे, नाक, कान सबकुछ होते हुए भी निरर्थक हो गये।

जीवात्मा

शरीर को सार्थक बनानेवाला जीवात्मा है। इसी के कारण हम सबकुछ कर रहे हैं। जिस प्रकार धक्का लगाना मनुष्य की शक्ति का ही काम है, इसी प्रकार मनुष्य के अन्दर के सभी कार्य एव इंद्रियों के सभी व्यवहार, मन का संकल्प-विकल्प और बुद्धि का निश्चय इत्यादि जीवात्मा के कारण ही होते रहते है। शक्ति न दीखने पर भी शक्ति के कार्यो से शक्ति का अनुमान ज्ञात हो जाता है। वैसो ही जीवात्मा भी है। सामान्यत. आत्मा का समाधि मे अनुभव और साक्षात्कार होता है, जबकि ज्ञान-प्रसाद से सत्त्व विशुद्ध हो जाता है। **शुद्ध सत्त्व ही आत्मा का साक्षात्कार कराता है।**



शुद्धि और आत्मदर्शन

जिस प्रकार थाली में भरे पानी में चन्द्रमा के दर्शन हो जाते है उसी प्रकार शुद्ध अन्त.करण में आत्मदर्शन होता है। अतः अन्तःकरण की शुद्धि होना आवश्यक है, क्योकि जिस प्रकार अशुद्ध दर्पण में शरीर का प्रतिबिम्ब नहीं दीखता उसी प्रकार अशुद्ध अंतःकरण मे आत्मदर्शन भी नहीं होता।

सभापति नजर नहीं आ रहा !

गुरुजन भी आत्मप्राप्ति की जिज्ञासा करनेवालो को उनके विशुद्ध चित्त मे ही आत्मदर्शन करा सकते है, अशुद्ध चित्त में नही। आत्मा कोई अपने से भिन्न वस्तु नहीं है। आत्मा तो अपना निजी-पन है। पर हमें दर्शन अज्ञान के कारण नही हो रहा है। बुद्धि से अज्ञान के मल को हटाने की देर मात्र है। अवश्य दर्शन हो जायेगे। क्योंकि वह तो चौबीसो घटे दर्शन दे ही रहा है। वही इंद्रिय, मन और बुद्धि आदि की सभा का सभापति है। आश्चर्य तो इस बात का है कि हम सभा को तो देख रहे हैं किन्तु हमे सभापति नजर नही आ रहा है। हमारी दृष्टि सभापति पर नही

वल्कि सभा में बैठे हुए सभ्यो पर है, जो हमारी दृष्टि को आकर्षित कर रहे है। इसलिए जो सभापति हमारे सामने बैठा है उसे हम नही देख पाते। किसी पर के दर्शन करने हों तो उसमें हमारी पराधीनता है। किन्तु **अपने दर्शन मे पराधीनता किस बात की ?** किसी ग्राम मे जाना हो तो प्रोग्राम बनाने की आवश्यकता है। किन्तु जब अपने ही धाम में रहना है तो प्रोग्राम की भी क्या आवश्यकता है ?

थाली मे पानी अगर गदला होगा, तो उसके अन्दर चंद्रमा का अक्स भी गदला ही दीखेगा, या फिर दीखेगा ही नही। थाली का पानी जब हिलेगा तो चद्रमा भी हिलता हुआ-सा ही वहाँ नजर आयेगा। इसी प्रकार **जब हमारा अन्त करण दूषित होगा तो हमें सर्वत्र दोष ही दीखेगे।** हमारा अंत.करण विक्षिप्त होगा तो हम सुखस्वरूप होते हुए भी दुःख का ही अनुभव करेंगे। अतः थाली के विशुद्ध पानी के समान हमारे अतःकरण मे भी पूरी विशुद्धता चाहिये। इसी के लिए निदिध्यासन, मनन और श्रवण तथा कर्म, भक्ति आदि है। चित्त की शुद्धि सर्वत्र अपेक्षित है। **जहाँ जितनी चित्तशुद्धि होगी वहां उतना ही निर्विघ्न साक्षात्कार होगा।** अतएव पूर्ण स्वात्मदर्शन के लिये चरम कोटि की शुद्धि अपेक्षित है। इसी कारण साधन अपनाये जाते है।

卐 卐 卐

आत्म-ज्योति

ज्ञान-प्रकाश से अज्ञानता का अंधकार दूर होता है। हम ज्ञान स्वरूप तो हैं ही, किन्तु हमे स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण हम अंधकार में ठोकरें खा रहे है। वास्तव में अंधकार नाम की कोई वस्तु नही है। अधकार तो हमारा अपना ही वनाया हुआ है। जिस प्रकार एक वालक अपने ही वनाए हुए मानसिक भूत से डरता है ठीक इसी प्रकार अपने ही वनाए हुए अज्ञानरूपी अंधकार में हम भी भयभीत होते है।

मन के पीछे आत्मज्योति

वाहर की ज्योति हमें देखने के लिए उकसाती है किन्तु देखने के लिए तो आत्मज्योति ही उपयुक्त है, जिसका कभी वाध नही होता। आत्मज्योति अपनी ही निजी ज्योति है, किसी और की नहीं। वाहर की अन्य ज्योतियों का आधार भी आत्मज्योति ही है। मन का चलना, रुकना, विचलित

होना, गात होना और इच्छा करना आदि सब इसी से होते है। इद्रियो के व्यापार तथा उनका ज्ञान भी आत्मज्योति से ही होता है। इद्रियो के पीछे मन है। यदि कही इंद्रियों के पीछे मन न हो तो इद्रियो का व्यापार होते हुए भी कुछ पता नहीं चल सकता। उदाहरण के लिये हम किसी प्रवचन मे बैठे हुए हों और कर्णेन्द्रिय से प्रवचन सुन रहे हों किन्तु यदि हमारा मन किसी और तरफ चला जाये तो सुनी हुई बात भी अनसुनी हो जाती है। मन के पीछे बुद्धिनिहित आत्मज्योति है। अगर वह न हो तो मन भी किसी निश्चय पर नही पहुंच सकता। **मन स्वभाव से ही जड़ है। उसके अंदर संकल्पशक्ति आत्मज्योति से ही उत्पन्न होती है।** आत्म-ज्ञान भी अपनी आत्मा की महत्ता की पहचान पर निर्भर होता है, जिसके होने से सबका होना है—जिसके प्रकाश मे इद्रिया, मन, बुद्धि आदि अपने-अपने व्यापार करते हैं—जिनके न होने से अदर बिलकुल अंधेरा हो जाता है या कहे तो कुछ भी नही रहता। शरीर की इद्रियां, बुद्धि, मन आदि सभी आत्मज्योति पर आश्रित है। आत्मज्योति ही इन सब का आधार है। उसी की अव्यक्तता के कारण सबको प्रेरणा मिलती है। यह आत्मज्योति स्वतत्र है, पूर्ण है, अखड है।

मनुष्य का अपना अस्तित्व अतर की अव्यक्त आत्मज्योति पर ही निर्भर है। बाहर की ज्योतिया कभी रहती है कभी नही भी रहती है। जैसे, सूर्य कभी चढता है, कभी ढलता है। दीपक भी जलता-बुझता है। चन्द्रमा उगता-डूबता है, किन्तु आत्मज्योति का तो नित्य, निरन्तर, अविरल, अलुप्त एक-सा प्रकाश रहता है।

कुछ न रहने का पता

राज-दरबार मे कोई नर्तकी नाच रही हो। वहा विभिन्न दर-

बारीगण बैठे हुए उस नाच को देख रहे हो तो वे सब जलते हुए दीपक में ही प्रकाशमान होते है। दीपक वहा नर्तकी एव दरवारी दोनो के होने को प्रकाशता है। अगर एक-एक करके राजा, नर्तकी और दरबारी वहां से चले भी जाये तब भी दीपक प्रकाशता है तथा उनके न होने को भी प्रकाशित करता है। इसी प्रकार आत्मज्योति जाग्रत मे इद्रियो द्वारा किए हुए व्यापार को प्रकाशती है। स्वप्न मे जब कि ये इंद्रिया हृदय में एकत्रित हो जाती है तो वही स्वयंज्योति इन्हें प्रकाशती है। मन जब सकल्प-विकल्प करता है, तो भी उसे प्रकाशती है और जब मन सकल्परहित हो जाता है, तो भी आत्मज्योति वहा रहती है, जिसमे मन के संकल्प का अभाव भी प्रतीत होता है, जैसा कि सुषुप्ति मे। किंतु वहां पर कोई है जो सबेरे उठकर सुषुप्ति के अनुभव की चर्चा करता है कि 'मे ऐसा सुख से सोया कि मुझे कुछ भी पता न रहा।' इस कुछ न रहने का पता रखने वाला भी कोई था और वह हमारी आत्मज्योति ही है।

परम ज्योति से ज्योतित बाह्य ज्योतियां केवल इंद्रियों को ही उभारती है, किंतु वे देखती नहीं। आत्मज्योति मे तो उभारने के अलावा देखना भी है। बाहरी ज्योतियां अपूर्ण व तुच्छ एवं पराश्रित है, किन्तु आत्मज्योति पूर्ण सर्वस्वतंत्र ज्योति है। सूर्य, चन्द्र और दीपक केवल नेत्र मे दृश्य के दर्शाने के साधन है। द्रष्टा न हो तो बाहरी ज्योति भी दिखाने मे असमर्थ है। वह किसको दिखाये ?

स्वयं को स्वयं से देखना

आत्मज्योति के अनुभव के लिए साधक को चाहिए कि वह

ज्ञानेन्द्रियों को निष्क्रिय करके अपनी वृत्तियों का साक्षी बनकर भीतर ध्यानपूर्वक स्वयं को स्वयं से देखे। जो इन वृत्तियों के उदय और अस्त होने को देखता है, वही सच्चा द्रष्टा है। वही हमारा अपनपा तथा आत्मज्योति है, जिसकी आराधना की ओर सारे शास्त्र इंगित करते हैं।



सबका प्रेरक आत्मा

एक ही आत्मा सबको प्रकाशित और प्रेरित कर रही है। उसी के प्रकाश से सभी मनुष्य सोच और समझ रहे है एव अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। मिल मजदूर और किसान में भी वही आत्मा प्रकाशित हो रही है जो कि एक मन्त्री के अन्दर। **विभिन्न मनुष्य में आत्मा भिन्न-भिन्न नहीं होती, उनके अंत करण भिन्न भिन्न होते है।** सर्वव्यापक आत्मा मनुष्य मे ही क्यो, कही भी भिन्न नही हो सकती। जैसे भिन्न-भिन्न घरो मे लगे हुए विजली के वल्वो में एक ही पावर हाउस से करेण्ट आ रहा है। वे भिन्न-भिन्न घरो मे लगे हुए तथा प्रकाश दे रहे है। न्यूनाधिक रूप में प्रकाश देने वाले वल्व जो न्यूनाधिक प्रकाश देते है उसका कारण यह नही कि भेद करेण्ट मे है। भेद तो वल्व के पावर मे है। इसी प्रकार **अंत:करणों के भेद है,** जिनके अनुसार ही उन्हे **आत्म-प्रकाश मिलता है।**

अंत:करण के चार विभाग

दार्शनिको ने मनुष्य के अंत.करण को अंत:करण की क्रियाओ

के भेद से चार विभाग मे विभाजित किया है। अंतःकरण जब संकल्प-विकल्प करता है तो मन कहलाता है। निश्चय करता है तो वही बुद्धि रूप होता है, आत्मा की चेतनता से चैतन्य हुआ लगता है। सब संस्कारों को धारण करता है, तो चित्त कहलाता है। यही अंत करण जब किये हुए कर्मो अथवा व्यक्तित्व पर अभिमान करता है तो अहकार कहलाता है। असल मे अंतःकरण एक ही है। उनकी परिस्थिति-भेद के कारण शास्त्र मे उसके भेद कहे गये है। किसी का अत करण शुद्ध है और किसी का अंतः-करण मलिन है। मलिन अंतःकरण मे आत्मा का ज्ञान-रूप-प्रकाश कम विकसित होता है, क्योकि मल उसके प्रकाश को रोक लेता है। जैसे किसी बिजली के बल्ब पर काले रग का कागज चढ़ जाने से उसका प्रकाश अदर होते हुए भी कागज की कालिमा के कारण बाहर विकसित नही हो पाता, इसी प्रकार मनुष्य के दूषित अंतःकरण मे आत्मप्रकाश विकसित नहीं हो पाता। किन्तु प्रकाशशील आत्मा का प्रकाश सर्वत्र समान रहता है। वह मन की शुद्धता के अनुसार हर जगह प्रकाशता भी है।

संत बिना किसी भेद-भाव के सभी को अपनी आत्मा करके देखते है। इसी से वे संसार मे सबसे प्रेम करते हैं। उनको सभी अपने ही नजर आते है। वे सर्वात्म तथा सबके प्रेमी होते है। जहा प्रेम होता है, वही प्रसन्नता होती है, वही ईश्वर का निवास होता है। जहा (मै-तू) का भेद-भाव होता है वहां मनुष्य खिन्नता को प्राप्त होता है। अतः सर्वत्र सब का प्रेरक आत्मा को समझकर, सबको अपनी ही आत्मा मान सबसे प्रेम करना चाहिये।

जीवन - यात्रा

मानव के अदृष्ट के अनुसार मानव को आत्मीय प्रेरणा मिलती है। इसी प्रेरणा के अनुसार मानव की जीवन-यात्रा चला करती है। इसी से प्रेम मिलता है। भगवान की प्रेरणा सर्वत्र मुख्य है। यही समदर्शिता की जड़ है। जिन्हे यह प्राप्त हो गयी है वे मुझमें, तुझमें, सबमें सदा परमात्मा की झाकी करते हैं। सर्वत्र सर्वेश की झांकी मिल जाना सबको प्रेमी बना देता है।



यह हमारी आत्मा नहीं

अपना परमानद केवल नित्यानंद स्वरूप है। **आत्मा परोक्ष नहीं अपरोक्ष है, साक्षात् अपरोक्ष।** जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, अर्धसुषुप्ति और समाधि–इन पाचो अवस्थाओ में से किसी अवस्था मे एवं भूत, वर्तमान और भविष्य मे कभी इसका अभाव नही। **जो अपने से कभी जुदा न हो, वही खुदा है।** ऐसी अपनी आत्मा ही है। जो अपने से जुदा हो जाय वह आत्मा नही हो सकता। **यह हमारी आत्मा नही**

शरीर मरण काल मे हमसे जुदा हो जाता है, अतः यह हमारी आत्मा नहीं। इन्द्रिया सिर्फ जाग्रत और स्वप्न में काम करती है, सुषुप्ति मे नही। अर्थात, वह भी हमारी आत्मा नही। मन, बुद्धि सुषुप्ति मे नही रहती इसलिए वे भी हमारी आत्मा नही हो सकती। जो शेष रह जाता है, जिसको अलग करने का प्रयत्न करने पर भी अलग नही किया जा सकता वह है हमारी आत्मा, जो कि हमारा ही निजीपन है। सारे आनंद इसी मे है। इसीसे सारी रौनके भी है। हमे आनन्दित करने के लिए केवल शांति चाहिये। हम निजानन्द शाति मे ही ले सकते है अन्यथा कभी नही।

卐 卐 卐

स्रोत से मिलन

सागर का जल भाप के रूप मे उड़ कर क्रमश: बादल बनता है और आकाश में छा जाता है। फिर वर्षा द्वारा वह वन-पर्वतों पर गिरता है। वहाँ से वेगपूर्वक नीचे की ओर बहता नदी-नालो का रूप धारण कर बड़े-बड़े मैदानों में से गुजरता हुआ अन्ततः अपने उद्गम सागर में ही स्वयं जा मिलता है। इसी प्रकार जीव भी अन्त मे अपने उद्गम स्थान परमात्मा मे ही जा मिलता है।

परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ

ग्रीष्मकाल मे जब तीव्र गर्मी पड़ती है, तो गरमी से समुद्र का जल भाप बनकर ऊपर को उठता है, धीरे-धीरे बादल का रूप धारण करता है, फिर समय पर पहाड़ों से टकराकर सन्तप्त भूमि को हरा-भरा कर देता है। इसी प्रकार महान् पुरुष शास्त्रों का सार निकालकर जनता को देते है, जिससे जनता के सन्तप्त एव

दु:ख-क्लेश भरे हृदयो को आत्मिक शान्ति प्राप्त होती है।

समुद्र का जल खारा होता है, परन्तु जब वही जल बादलों के द्वारा भूमि पर गिरता है तो मीठा हो जाता है। इसी प्रकार शास्त्रो मे बहुत सी परस्पर विरोधी-सी और दुष्कर बाते लिखी हुई है, जिनमे साधारण मनुष्य के उलझ जाने की सभावना बनी रहती है। लेकिन महान् पुरुष परस्पर विरोधाभासो को साफ कर, उस परम विद्या को सरल बना, लोगों की समझ में आ जानेवाली युक्तियो के द्वारा उसी कैवल्यदायिनी परमविद्या-रूपी सुधा का सत्सग द्वारा पान कराते हैं।

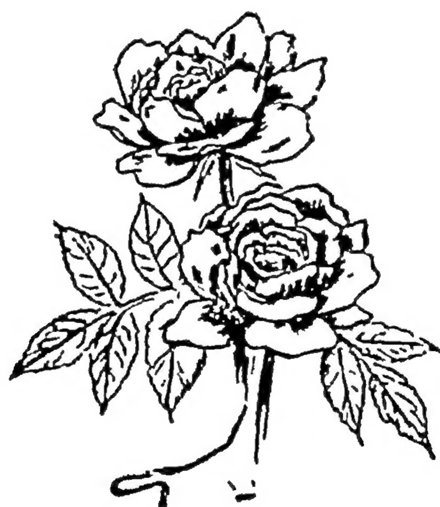
तीव्र संवेगी साधक

जैसे नदी-नाले पहाड़ों की छाती को चीरते, रास्तो के सभी विघ्न-बाधाओ से टकराते अपने स्रोत समुद्र की ओर निरन्तर चलते रहते है, इसी प्रकार तीव्र सवेगी साधक तीव्र जिज्ञासा रखते हुए, विघ्न-बाधाओ का सामना करते अपने लक्ष्य की ओर सदा अग्रसर होते हुए अत मे उसे अवश्य प्राप्त होते है।

जानत तुमहि तुमहि ह्वै जाई

जब गगा गगोत्री मे चलती है तो एक छोटी-सी धारा के रूप मे ही चलती है, किन्तु जैसे-जैसे वही गगा आगे बढती जाती है तो उसकी विशालता भी बढती जाती है। अन्त मे वही गगा, सागर के पास जाकर सागर के रूप मे परिणत हो जाती है। वहाँ उसका कोई अलग अस्तित्व ही नही रहता। इसी प्रकार साधक जैसे-जैसे अपनी साधना मे आगे बढता जाता है, उसकी विशालता भी बढती जाती है। अन्त मे वह व्यापकता को अपना कर स्वयं ब्रह्म स्वरूप

में निखर आता है। ब्रह्म स्वरूप तो हर एक जीव स्वत है ही, किन्तु उसे अपने स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण वह अज्ञानी कहलाता है। जब वह अपने को जान जाता है, तो उसे पता चलता है कि जिसे मैं जानना चाहता था वही मैं हूँ।



ज्योतियों की ज्योति

स्वयप्रकाश आत्मा ही अपने प्रकाश से सब इंद्रियों, बुद्धि और अंतःकरण को प्रकाशित कर रही है। जिस प्रकार कि एक घड़े मे कुछ छिद्र हो और उस घड़े को उलट कर एक जलते हुए दीपक पर ढक दिया जाए तो उस समय जैसे घड़े के छिद्रों से दीपक का प्रकाश बाहर आने लगेगा इसी प्रकार आत्मा का प्रकाश इंद्रियों को प्रकाशित करता हुआ बाहर के विषयों को भी प्रकाशित कर देता है। यहां घड़े के छिद्र इद्रियों के प्रतीक है। घड़े मे ढका जलता हुआ दीपक आत्मा का प्रतीक है, प्रकाश का बाहर आना इद्रियों की चैतन्यता है। अन्तर केवल इतना है कि घड़े में ढॅका यह दीपक बुझ भी सकता है किन्तु आत्मज्योति कभी नही बुझती।

बाहर की ज्योति देखने मे निमित्त है। इसी प्रकार अन्तर की ज्योति दिखलाने में निमित्त है। वह देखती भी है। अतः दोनों काम करती है। बाहर की ज्योति जड़ है, वह बुझ भी जाती है, किन्तु अन्तर की ज्योति चेतन ज्योति है जो कभी नही बुझती।

उसका प्रकाश अलुप्त है। आत्मा का प्रकाश मनुष्य के रोम-रोम मे व्याप्त है। चमड़ी के किसी भी हिस्से में एक सुई की नोक भी लगाने से आत्म-प्रकाश सुई की चुभन के अनुभव को सूचित कर देता है। यह प्रकाश जाग्रत मे ही नही स्वप्न मे भी मन द्वारा नया ससार रचकर उसे प्रकाशित कर देखता और दिखाता है।

अपने ही रचे चॉद-सूरज

मनुष्य स्वप्न मे अपने ही रचे चाद-सूरज खड़े कर लेता है। क्योकि मनुष्य भी तो ईश्वर से कम नही ! मनुष्य भी अपना ससार जिसमे चाद-सूरज, नदी-नाले, पहाड़ आदि सब कुछ है, रच ही लेता है। वह बिना लकड़ी, चूना और सीमेट आदि मसाले के महल खड़े करता है। इन सबके रचने की शक्तिया मनुष्य मे उसी आत्मज्योति से प्राप्त है, जो कि सतत् प्रकाशस्वरूप है। विडम्बना यह है कि हम सभी कार्य आत्मज्योति से करते हुए भी इस आत्मज्योति को नही जानते। यही हमारा सबसे बड़ा भ्रम है। इसी ने हमे संसारी बना रखा है। कोई भी व्यक्ति भ्रम की निवृत्ति होते ही स्वय ईश्वरत्व का अनुभव करता है। भ्रम निवृत्ति के लिए ही सारे शास्त्र और सारे प्रयत्न है। **वेदों ने आत्मा को ज्योतियों की भी ज्योति** कहा है। इसी ज्योति का पूर्ण रूप से साक्षात्कार हमारा लक्ष्य है।

卐 卐 卐